[मूल मराठी का हिन्दी रूपान्तर]

अप्पा पटवर्धन

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
वर्धा (म० प्र०)

पहली बार : २०,०००
सितंबर, १९५५
मूल्य : चार आना

मुद्रक :
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस,
बनारस

समर्पण

यह पुस्तिका मैं अपनी दिवंगत माता की पवित्र स्मृति को
अत्यंत भक्तिभाव से समर्पित करता हूँ। इस पुस्तिका
के विचार मुझे जितने गांधी-विनोबा से मिले हैं,
उससे भी अधिक मेरी माता से ही मिले हैं।
आज वह जीवित होती, तो भूदान-यज्ञ-
आंदोलन से उसे संतोष होता और मैं
उसमें भाग ले रहा हूँ, यह देखकर
वह मेरी पीठ थपथपाती।

गोपुरी
ता० १७-१०-'५४

—अप्पा पटवर्धन

अनुक्रम

———

गाँव का गोकुल

भूदान-यज्ञ का उद्भव और विकास   : १ :

विनोबा आज के युग के प्रति-ज्ञानेश्वर[1] ही हैं। जैसे ज्ञानेश्वर के निवृत्ति और सोपान, दोनों भाई उन्हींके समान बुद्धिमान् एवं वैराग्यशील थे, वैसे ही विनोबा के दोनों भाई, श्री वाळकोबा और श्री शिवाजी भी बुद्धिमान्, विद्वान्, चुस्त ब्रह्मचारी एवं समाज-सेवा के लिए सर्वस्व अर्पण करनेवाले सेवक हैं। सारे संसार के इतिहास में ऐसा तीसरा उदाहरण शायद ही हो, जहाँ तीनों भाई परमार्थनिष्ठ रहे हैं।

वचपन में ही विनोबा ने देश-सेवा का तथा ब्रह्मचर्य का दृढ़ संकल्प किया। संत-वाङ्मय में उनकी विशेष रुचि थी। तुकाराम, रामदास, ज्ञानेश्वर आदि के ग्रंथ उन्होंने वचपन में ही कंठ कर लिये। सन् १९१४ में लोकमान्य तिलक का 'गीता-रहस्य' ग्रंथ प्रकाशित हुआ। विनोबा ने उसका लगातार चौदह वार पारायण किया और इंटरमीडियेट की परीक्षा के लिए वम्बई जाने के वदले वेदांत के अध्ययन के लिए काशी की राह पकड़ी। वहाँ से १९१६ में वे गांधीजी के सत्याग्रह-आश्रम में दाखिल हुए।

---

१ ज्ञानेश्वर—महाराष्ट्र के ब्रह्मनिष्ठ कवि, दार्शनिक और संत-शिरोमणि। तेरहवीं शताब्दी में इनके कारण महाराष्ट्र का पुनरुत्थान हुआ। तब से आज तक महाराष्ट्र के देहातों में जब भी सामूहिक भजन होता है, तब 'ज्ञानेश्वर माउली' (माउली = माता)—'ज्ञानराज माउली' का नामघोष होता ही है।

बीच में ठीक एक वर्ष के लिए वे वाई के पंडित श्री नारायण शास्त्री मराठे के पास उपनिषदों के अध्ययन के लिए गये थे। उस एक वर्ष की अवधि को छोड़कर वे या तो साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम में या १९२१ में अपने स्वयं स्थापित किये हुए वर्धा-आश्रम में अखंड साधना करते रहे। १९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह-आंदोलन का श्रीगणेश करते हुए गांधीजी ने जब उन्हींको प्रथम सत्याग्रही के तौर पर चुना, तभी पहली बार बाहर की दुनिया ने विनोबा का नाम सुना। इसके बाद के चार साल उन्होंने जेल में व्यतीत किये। उस समय उन्होंने भारत की सारी भाषाओं का और लिपियों का अपना अध्ययन पूरा किया। कुरान का अध्ययन करने के लिए अरबी भाषा सीख ली। फारसी तथा अंग्रेजी भाषाएँ उन्हें अवगत हैं और संस्कृत का सारा धर्म-वाङ्मय तो उन्होंने आत्मसात् ही कर लिया है। भगवद्गीता पर उनकी अपार भक्ति है और उस ग्रंथ का उनका विशेष अध्ययन है। गीता का उनका समश्लोकी मराठी अनुवाद 'गीताई' अप्रतिम है। उनके 'मधुकर', 'गीता-प्रवचन', 'स्थितप्रज्ञदर्शन' आदि ग्रंथ लाखों निष्ठावान् पाठकों के जीवन में परिवर्तन कर रहे हैं।

हमने गांधीजी के युग में जन्म लिया और उनके नेतृत्व में काम करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ। इससे हमारा जन्म सार्थक हुआ। उसी प्रकार उनके बाद विनोबा-जैसे लोकोत्तर सत्पुरुष के नेतृत्व में भूदान-यज्ञ जैसे परम पवित्र आंदोलन में भाग लेने का सुयोग हमें प्राप्त हुआ। यह भी हमारा परम सौभाग्य है।

भूदान-यज्ञ

अप्रैल, १९५१ में हैदराबाद (दक्षिण) के समीप शिवराम-पल्ली गाँव में सर्वोदय समाज का सम्मेलन हुआ। उसमें भाग

लेने के लिए विनोबा वर्धा से हैदराबाद पैदल गये। सम्मेलन समाप्त होने के बाद तेलंगाने में जमींदारों और किसानों के बीच जो विग्रह की अग्नि सुलग रही थी, उसका उपयुक्त हल निकालने के उद्देश्य से विनोबा ने तेलंगाने की पदयात्रा प्रारंभ की। उस यात्रा में तारीख १८-४-'५१ को पोचमपल्ली गाँव में, विनोबा की प्रार्थना-सभा में वहाँ के हरिजनों ने विनोबाजी के सामने अपनी निराधार स्थिति रखी और प्रार्थना की कि यदि विनोबा उन्हें सरकार से पर्याप्त भूमि दिला देंगे, तो वे लोग बिना किसीको छेड़े या सताये, मेहनत-मजदूरी करके सुख-संतोष से अपना गुजारा कर लेंगे। उनकी वह माँग विनोबा को उचित मालूम हुई और उन्होंने वहाँ की सभा में उपस्थित जमींदारों से वहीं प्रार्थना की कि वे अपने इन गरीब भाइयों के लिए थोड़ी-थोड़ी जमीन दें। १६ हरिजन कुटुम्बों के लिए, प्रति कुटुम्ब पाँच एकड़ के हिसाब से, अस्सी एकड़ जमीन की आवश्यकता थी। श्रोताओं में से एक तरुण सज्जन श्री रामचन्द्र रेड्डी खड़े हुए और उन्होंने घोषणा की कि मैं अपनी जमीन में से सौ एकड़ अच्छी जमीन हरिजनों को अर्पित करता हूँ।

विनोबा ने माना कि मुझसे परमेश्वर प्रसन्न हुए, इसका यह चिह्न है। सज्जनों का हृदय ही परमेश्वर का निवास-स्थान है। प्रत्येक मनुष्य मूलतः सज्जन ही है। उसके हृदय में परमेश्वर का ही निवास होता है। वह सोता हो, तो भी सच्ची भक्ति की पुकार से वह जागता है और प्रकट होता है, इसका यहाँ उन्हें अनुभव हुआ। उस दिन से विनोबा जहाँ गये, वहाँ उन्होंने जमीन-मालिकों से भूमि-हीनों के लिए भूमि माँगी और प्रत्येक स्थान पर सज्जन भू-स्वामियों ने उन्हें जमीन दी भी। इस प्रकार उस समय तेलंगाना में बारह हजार एकड़ भूमि प्राप्त हुई।

तेलंगाना की यात्रा समाप्त कर विनोबा पैदल ही वर्धा लौटे।

थोड़े ही दिनों बाद उन्हें जवाहरलालजी का निमंत्रण, दिल्ली आकर मिलने के लिए, आया। जहाँ तक हो सके, विनोवा सिक्के का उपयोग करना टालते हैं। क्योंकि, पैसे से ही समाज में कई प्रकार के अनर्थ हो रहे हैं। वास्तव में पैसा सम्पत्ति नहीं है। वह तो केवल संपत्ति-दर्शक मुद्रा है, एक रुक्का है। किंतु आज के व्यवहार में फोटो ने मनुष्य को और चिट्ठी ने लेखक को पदच्युत कर उसकी जगह हड़प ली है। इसलिए व्यवहार से इस छलिया पैसे को निकाल वाहर करने पर विनोवा जोर देते रहते हैं। रेल, मोटर, विमान आदि का प्रवास विना पैसे के हो नहीं सकता। इसके अतिरिक्त पैदल चलनेवाला स्वतंत्र होता है, अपने मन का राजा होता है। पैदल चलने से और भी कई वातें सिद्ध होती हैं। इसलिए विनोवा यथासंभव पैदल ही चलते हैं। आवश्यकता होने पर तो वैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी का उपयोग कर लेते हैं। दिल्ली भी वे पैदल ही गये। रास्ते में भूदान का प्रचार जारी ही था। तपश्चर्या, विद्वत्ता, चिंतन, प्रतिभा तथा चारित्र्य के कारण विनोवा की वाणी में ऐसी शक्ति आ गयी है कि जिन-जिनके कानों में उनकी अमृततुल्य वाणी पहुँचती है, वे उनके भक्त वन जाते हैं। विनोवा को दिल्ली के रास्ते में भी काफी भूदान मिला। वहाँ से वे कार्यकर्ताओं के आग्रह से उत्तर प्रदेश में गये। वहाँ उन्हें चार-पाँच लाख एकड़ जमीन मिली और भूदान-यज्ञ-आंदोलन का यश चारों ओर फैलने लगा। अप्रैल, १९५२ में वनारस के समीप सेवापुरी में सर्वोदय समाज का सम्मेलन तथा सर्व-सेवा-संघ की सभा हुई। उसमें सर्व-सेवा-संघ ने आगामी दो वर्षों में सारे भारत में पचीस लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने का संकल्प किया। सर्व-सेवा-संघ के प्रधानमंत्री श्री शंकरराव देव ने इस आंदोलन के लिए अपने-आपको समर्पित कर दिया और कई प्रदेशों में पद-यात्राएँ कीं। विनोवा ने यह स्पष्ट कर दिया कि ये पचीस लाख एकड़ तो

केवल पहली किस्त होंगे। १९५७ तक कुल पाँच करोड़ एकड़ जमीन दान में प्राप्त कर भूमिहीनों में बाँटनी है। इसी निश्चय से विनोबा काम कर रहे हैं।

गाँव का गोकुल

उत्तर प्रदेश की यात्रा पूरी कर विनोबा ने बिहार की पुण्यभूमि में प्रवेश किया। बिहार बुद्ध भगवान् की भूमि है। वहाँ विनोबा ने अपना यह निश्चय घोषित किया कि जब तक बिहार की भूमि-समस्या का पूरी तरह समाधान नहीं होगा अर्थात् जब तक वहाँ बत्तीस लाख एकड़ जमीन नहीं मिलेगी, तब तक वे बिहार छोड़कर नहीं जायँगे। उनका वह महान् संकल्प भी बहुत अंशों में पूरा हो गया है। दो वर्षों में पचीस लाख एकड़ से अधिक जमीन मिल गयी। बिहार में ५ अक्तूबर, १९५४ तक २२ लाख, १७ हजार एकड़ जमीन मिली है। शेष भूमि भी अब अवश्य मिलेगी, इस विश्वास से प्राप्त भूमि के बँटवारे की ओर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। उत्तर प्रदेश, बिहार एवं उड़ीसा में विनोबा को कई पूरे-के-पूरे गाँव दान में मिले हैं। जहाँ जमीन बड़े पैमाने पर वितरित होती है, वहाँ भूमि-दाताओं तथा भूतपूर्व भूमि-हीनों के बीच सद्भावनाओं और नयी आशाओं की उमंग आती है और गाँव में नवजीवन का संचार होने लगता है। गाँव 'गोकुल' बन जाता है। विनोबा की इच्छा है कि भारत का प्रत्येक गाँव इस प्रकार गोकुल बने। हम सबकी भी इच्छा यही हो सकती है। कौन नहीं चाहता कि हमारा अपना गाँव अदालत के फैसलों से नहीं, बल्कि गाँववालों के पारस्परिक प्रेम, ऐक्य तथा संतोष से अपना जीवन सम्पन्न करे और वह गोकुल बने।

गाँव का गोकुल बनाने की सामर्थ्य भूदान-यज्ञ में ...

सबै भूमि गोपाल की :२:

दूसरे प्रकार की सम्पत्ति के लोभों की अपेक्षा भूमि का लोभ सबसे अधिक बलवान है। पाव (¼) कट्ठा जमीन के लिए लोग हाईकोर्ट तक लड़ते हैं। और आप लोग कहते हैं कि जमीन-मालिक अपने पूर्वजों की कमायी हुई, पुश्तों से उनके खानदान के कब्जे में रही हुई जमीन शांति से और प्रेम से भूमिहीनों को दे दें। यह कैसे होगा ?

कैसे होगा, यह क्या पूछते हैं ? हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से हो रहा है। पिता जिस प्रकार अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय और प्रेम से प्रतिपालित कन्या बड़े प्रेम तथा भक्तिभाव से बड़े समारोह के साथ वर को सौंप देता है और ऊपर से कुछ अलंकारादि देकर अपने-आपको कृतार्थ मानता है, ठीक उसी प्रकार जमींदार और गरीब छोटे जमीन-मालिक भी भूमिहीनों को, अपनी आज तक की असामियों (कौलदार) और मजदूरों को भूमि अर्पित करने में तथा बैल, हल और जुआ आदि देने में अपने को धन्य मानते हैं।

सब ऐसा ही करें और धन्य हों। जो प्रेम से नहीं देंगे, उन्हें देने के लिए कल कानून बाध्य करेगा। कानून के रास्ते में रुकावटें आवें, तो शायद बलवा भी हो। उसमें सबकी हानि होगी। किंतु भूमि का पुनर्वितरण किसी हालत में भी टल नहीं सकता।

बलवा होगा कहना डराना-धमकाना नहीं है। वह तो एक संवेदनापूर्ण पूर्व-सूचना है।

किंतु यदि लोग भूदान-यज्ञ का पवित्र संदेश समझने की कोशिश करेंगे, तो वह उन्हें जरूर जँचेगा और यदि बहुत लोग उस तत्त्व का आचरण करेंगे, तो उससे सबका कल्याण ही होगा।

मुझे यह विश्वास है कि लोग मानेंगे और प्रेम से तथा शांति से भूमि-वितरण होगा, कानून भी यथासमय होगा, हो भी रहा है और विरोध करने का दुःसाहस भी कोई नहीं करेगा।

लेकिन उसके लिए भूदान-यज्ञ के पीछे जो सद्विचार है, उसे लोगों को भलीभाँति समझा देना चाहिए। उनकी शंकाओं का, कठिनाइयों का तथा आशंकाओं का निवारण करना चाहिए। इस पुस्तिका का यही उद्देश्य है। विनोबा का तो सारा जोर विचार-प्रचार पर ही है। लिहाज-मुहव्वत के लिए भय से या दबाव से कोई एक चप्पा भर जमीन न दे। समझ में आने पर, बात दिमाग में खप जाने पर और जी में भाने पर लोग अपने-आप देंगे और दूसरों से दिलवायेंगे। किसीके मना करने पर भी वे नहीं मानेंगे। जो अनिवार्य प्रेरणा हमें इस विचार का प्रचार करने के लिए प्रवृत्त कर रही है, वही प्रेरणा उनसे भूमि दिलाये विना कैसे रहेगी ?

न्याय का नया तत्त्व

सामाजिक न्याय समय के अनुसार बदलता रहता है। "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है", राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच न्याय का यह नया तत्त्व लोकमान्य तिलक ने दुनिया के सामने रखा और उसीकी परिपूर्ति के रूप में महात्मा गांधीजी ने "भारत छोड़ो" की महत्त्वपूर्ण घोषणा की। परिणाम यह हुआ कि कुल पाँच साल में ही अंग्रेज भारत छोड़कर चले गये। उनके पश्चात् छह सौ राजा-महाराजाओं ने अपनी राजगद्दियाँ शीघ्र ही छोड़ दीं। साम्राज्य गये, राज्य गये, जागीरें गयीं, मनसबदारी गयी, इनामदारी जा रही है। इसमें कोई अन्याय नहीं हुआ; बल्कि अन्याय का निराकरण ही हुआ। इंग्लैण्ड के राजा को, पुर्तगाल के राजा ने बम्बई द्वीप दहेज में दिया था। पूना के दूसरे

बाजीराव ने महाराष्ट्र का राज्य एल्फिन्स्टन साहब के सिपुर्द किया था, किन्तु उसी पूना में स्वराज्य की एवं उसी बम्बई में "भारत छोड़ो" की ललकार उठी न! फरासीसियों से भी हमने भारत पर से अपने स्वामित्व का अधिकार छोड़ने को कहा और उन्होंने हमारी बात मान भी ली। पोर्चुगीज नहीं मान रहे हैं, इसलिए हम उन्हें उद्दण्ड कहते हैं और क्या यह भी नहीं कहते कि जमाना उन्हें हमारी बात मानने को बाध्य करेगा?

फिर वही न्याय 'सर्वे नंबरों के राज्यों' के लिए भी लागू हुए बिना कैसे रहेगा? जमीन-मालिक राजा ही तो हुआ। लैंड माने भूमि और लॉर्ड माने पति! असामी उनकी रैयत या प्रजा हुई! सब तरफ के राज्य समाप्त हो गये, फिर भला ये छिटपुट राज्य कैसे ठहर सकते हैं? ब्रह्मदेश ब्रह्मी लोगों का है। थिबा राजा अंग्रेजों की शरण गया या कैद हुआ। इतने से ही ब्रह्मदेश पर अंग्रेजों को राज्य करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। एल्फिन्स्टन को महाराष्ट्र दे देने का अधिकार ही बाजीराव को नहीं था। स्वराज्य तो हर देश के लोगों का अविभाज्य अधिकार है। इस अधिकार का न तो कोई दान कर सकता है और न अपहरण। यदि कोई ले लेता है, तो वह चोरी का माल लेगा। उसी न्याय से मैं जिसे जोतता हूँ, वह जमीन मेरी है, उसका लगान माँगने का किसी और को क्या अधिकार है? तो कहते हैं कि मेरे दादा ने उसके दादा को कर्ज-अदायी में जमीन की बिक्री का दस्तावेज लिख दिया था। किंतु भूमि तो ईश्वर की देन है। मनुष्य उसे कमाके फसल उपजावे, यह ईश्वर की या प्रकृति की कह लीजिये, योजना है। मेरे दादा को उसे बेचने का अधिकार नहीं था, उसके दादा को खरीदने का नहीं था। यदि पहले कभी रहा हो, तो भी वह अब रद्द हो जाना चाहिए।

जिस प्रकार स्वराज्य सारे राष्ट्रों का अविभाज्य अधिकार है,

उसी प्रकार परिश्रम से जीविका कमाने का प्रत्येक नागरिक को मूलभूत नैसर्गिक अधिकार है। उसका मुख्य साधन भूमि है। परमेश्वर ने पहले भूमि का निर्माण किया और बाद में मनुष्य का निर्माण किया है। भूमि का यह जन्मसिद्ध अधिकार कोई किसीको बेच नहीं सकता और न उसे कोई प्राप्त कर सकता है।

पुनर्वितरण

इसलिए जब भूमि का पुनर्वितरण होगा, और हरएक को उसके हिस्से की जमीन मिलेगी, तभी लोकतंत्र की परिपूर्ति होगी। लोकशाही के तत्त्व के आधार पर हमने स्वराज्य माँगा और उसी बुनियाद पर वह हमें मिला। जिस तत्त्व के अनुसार साम्राज्य नष्ट हुए और राज्य स्वतंत्र हुए, उसी तत्त्व के अनुसार अब जमींदारी मिटकर जोतनेवाले काश्तकार स्वतंत्र होने चाहिए। जमीन की ठेकेदारी बंद होनी चाहिए। लोकशाही में सभी राजा हैं अर्थात् सभी लोग जमीन के मालिक हैं।

स्वामित्व का मूल

भूमि की मालकियत का आरंभ मूलतः दो प्रकार से हुआ : जमीन कमाने के कारण या हड़प लेने के कारण। यह स्वाभाविक और उचित भी था कि जो मनुष्य जिस जमीन पर बस गया, जहाँ उसने अपना पसीना टपकाकर झाड़-झंखाड़, काँटे-कंकड़ निकालकर जमीन साफ की, गढ़े पाटे, जमीन समतल की, खेतों की मेड़ें बनायीं, समतल भूमि में पेड़ लगाये, बावड़ी खोदी और मोट लगायी, वह जमीन उसकी समझी जाय। प्रारंभ में किसीने भूमि ब्रह्मदेव से तो नहीं खरीदी थी। हरएक को केवल परिश्रम से ही भूमि का स्वामित्व प्राप्त हुआ।

शुरू में जिस तरह जोतनेवाले को और परिश्रम करनेवाले को जमीन की मालकियत मिली, उसी तरह आज के जोतनेवाले

को वह क्या न मिले ? शुरू का जोतनेवाला यदि कुछ मालदार हो जाने से, दूसरे किसी अधिक लाभदायी रोजगार में लग जाने से खेती करना छोड़ दे, तो उसकी मालकियत भी क्यों न नष्ट होनी चाहिए ?

खेती, जमीन की चाकरी है और फसल है उसका वेतन। जो चाकरी करता है, उसीको पूरा वेतन मिलता है। उसे अपने वेतन का कुछ हिस्सा पहले के नौकर को देना नहीं पड़ता।

परंतु मौजूदा काश्तकार को यानी भूमि के वर्तमान चाकर को, अलबत्ता जमीन के मालिक को यानी पुराने चाकर को वेतन यानी फसल का कुछ हिस्सा देना चाहिए, ऐसा रिवाज पड़ गया है। डिप्टी कलेक्टर की जगह प्राप्त करने के लिए अगर कोई तहसीलदार की जगह छोड़ दे, तो नया तहसीलदार पुराने तहसीलदार को कुछ लगान नहीं देता। कुछ प्राथमिक अध्यापक अधिक कमाई की आशा से मास्टरी छोड़कर रसोइये बन जाते हैं; तब उनका स्थान जिन बेकारों को मिलता है, वे उन रसोइयों को उस अध्यापक की जगह का किराया नहीं देते। बेकार रहने पर भी पढ़ा-लिखा व्यक्ति इतना बुद्धू नहीं बनेगा। फिर मूलतः जो किसान है, वह अगर अधिक कमाई की आशा से खेती छोड़ वकालत करने लगता है, तो उसकी जगह पर आनेवाला काश्तकार वकील साहब को बटाई क्यों दे ? क्या इसलिए कि वह भोला-भाला है ?

लगान का समर्थन और उसकी मर्यादा

नहीं, यह केवल भोलापन ही नहीं है। सबसे पहले के किसान ने प्रारंभ में बंजर भूमि में अपने खून का अर्थात् परिश्रम की खाद देकर उसे कमाया, उपजाऊ बनाया। उसमें आम लगाये, अमरूद लगाये, उन्हें सींचा, सँभाला और दीर्घकाल तक उनकी सेवा-चाकरी की, तब कहीं बीस-पचीस वर्ष के बाद उसे उन के

फल चखने को मिले। अब जब वह दूसरे के हवाले जमीन करके चला जाने लगा, तो दूसरा मनुष्य बिना परिश्रम के मिले हुए बने-बनाये आम-अमरूद का हिस्सा मूल किसान को दे, यह उचित ही है। यही 'लगान' कहलायगा। जैसा आम-अमरूद आदि फल-वृक्षों का लगान, वैसा ही धान की खेती का भी। किंतु भूमि का यह लगान लेना जैसे मुनासिब साबित होता है, वैसे ही कितनी मुद्दत तक वह वसूल किया जाय, इसकी भी कुछ मर्यादा होती है। दस-बीस बरस की मेहनत से जमीन उपजाऊ बनायी, इसलिए अगर लगान लेना उचित है, तो आगामी दस-बीस साल तक उसका अनुपात उत्तरोत्तर कम होता जाना चाहिए। यावच्चन्द्रदिवाकरौ लेते रहना उपयुक्त नहीं हो सकता।

उदाहरणार्थ, छोटेलाल ने एक होटल खोला और उसकी साख जमायी। अब उसी जगह पर वही धंधा चलाने के लिए प्यारेलाल ने उसे लिया, तो इस साख के लिए (अंग्रेजी में जिसे 'गुडविल' कहते हैं) प्यारेलाल, छोटेलाल को वार्षिक कुछ रकम दे, यह उचित है और ऐसा रिवाज भी है। लेकिन यह व्यवस्था कुछ बरसों तक ही रहेगी। बाद की साख तो प्यारेलाल की कारगुजारी और सिफत पर निर्भर करेगी।

भूमि का लगान भी साख की तरह कुछ मर्यादित समय तक लेना ही शोभा देगा। छोटेलाल प्यारेलाल से लंबे समय तक या बड़ी रकम माँग नहीं सकता। यदि वह माँगता है, तो प्यारेलाल कहेगा कि मुझे तेरी साख की कोई आवश्यकता नहीं है। पुश्त-दर-पुश्त तुझे हिस्सा देते रहने की अपेक्षा मैं अपनी हिम्मत पर तेरे ही सामने होटल चलाऊँगा और अपना सिक्का जमाऊँगा।

किंतु जैसे होटल नया खोला जा सकता है, वैसे भूमि नयी बनाने की गुंजाइश अब नहीं रही। सब जमीनों पर कब्जा हो चुका है। जो जितनी जमीन हथिया सका, उसने उतनी हथिया

ली है और अब नये आनेवालों के सिर फोड़ने के लिए यह 'बलिराजा' सोंटा लेकर तैयार है। जो नया आया है, वह बेचारा गरीब (बे-घरबार का) है, उसकी इस पुराने घाघ मालिक के सामने एक न चली। उसे तो पीढ़ियों तक शिकमी किसान के नाते असामी बनकर ही मेहनत-मशक्कत करते रहना होगा।

छीना-झपटी

भूमि का स्वामित्व मूल में जैसे मेहनत-मशक्कत से प्राप्त हुआ, वैसे ही वह जोर-जबरदस्ती से हड़पकर प्राप्त की गयी है। जमीन की मालकियत के बारे में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सिलसिला बराबर चलता आया है। यूरोपियनों ने अफ्रीका, अमेरिका आदि भिन्न-भिन्न प्रदेशों पर अपने-अपने राष्ट्र के निशान फहराये। उस समय से वे देश उनके मूल निवासियों सहित उन राष्ट्रों की मालकियत बन गये। अब एशिया के लोग वहाँ खेती करने जाने की सोचेंगे और वैसा प्रयत्न करेंगे, तो उन्हें वहाँ के सत्ताधारी लोगों की तोपों का शिकार होना पड़ेगा।

जिस प्रकार बड़े-बड़ों की जोर-जबरदस्ती चल रही है, उसी प्रकार मानना होगा कि जमीन के पट्टेदारों (खातादारों) की हुकूमत भी चाहे वह कानून से भले ही कायम की गयी हो, कम या अधिक मात्रा में जबरदस्ती पर ही आधारित है। रेलगाड़ी के प्लैटफॉर्म पर आकर ठहरते ही जैसे कुछ मुठमर्द मुसाफिर अच्छी जगह रोक लेते हैं, वैसे ही जिसके लिए संभव हुआ, उसने अच्छी और उपजाऊ भूमि हड़प ली। बाद में आनेवालों को या तो निकृष्ट भूमि से संतुष्ट रहना पड़ा या फिर दूसरों के असामी बनकर उनकी मेहरबानी पर जीना पड़ा। जमीन-मालिक ही कानून बनानेवाले भी थे। (हिंदुस्तान में भी स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व बड़े-बड़े पट्टेदारों को ही मत-दान का अधिकार था।) स्पष्ट है

कि वे अपनी सुविधा के ही कानून बनाते थे। बलिष्ठों ने जमीन आपस में बाँट ली और दुर्बलों को मेहनतकश काश्तकार बनाकर बिना श्रम से मिलनेवाले लगान पर वे ऐश-आराम करने लगे ।

खरीदार

लेकिन कुछ जमींदार कहेंगे कि हमने न तो जमीन पर जबरदस्ती कब्जा किया और न सिर्फ वह हमें मेहनत पर मुफ्त मिली है। हमने नकद कीमत देकर जमीन खरीदी है।

पर आपने वह खरीदी किससे ? या तो जुल्मी मालिक से ली होगी या जोतनेवाले मालिक से। अर्थात् बेचनेवाले को जितना और जैसा अधिकार था, उतना ही अधिकार आपको प्राप्त हुआ। चोरी का सोना खरीदने पर चोर का उस पर जितना अधिकार होता है, उतना ही खरीदार का होता है। यानी चोरी का पता जब तक नहीं लगता, तभी तक उस पर खरीदार की मालकियत रहती है। बात खुलते ही सोना जब्त होता है और खरीदार भी अपराधी करार दिया जाता है। उसी प्रकार आपने यह जबरदस्ती का अधिकार जबरदस्त कीमत देकर हासिल किया है। अब ईश्वर ही आपकी रक्षा करे।

जोतनेवाले परिश्रमी मालिक से आपने जमीन खरीदी हो, तो भी उसे सिर्फ अपनी साख यानी जमीन में की हुई तरक्की ही बेचने का अधिकार था। सब भूमि का असली मालिक ईश्वर ही है। उसके हस्ताक्षर आपके विक्री-पत्र पर नहीं हैं। अर्थात् आपने जोतनेवाले मालिक को "पगड़ी"[1] दी, कीमत नहीं। दोनों

---

१ बंबई की 'चालों' में रहनेवाले किरायेदार अपनी जगह जब दूसरे किरायेदार को देते हैं, तो उस नये किरायेदार से नजराने के तौर पर जो रकम लेते हैं, वह "पगड़ी" कहलाती है।

अवस्थाओं में भूमि के न्याय्य वितरण में रुकावट डालने का अधिकार आपको नहीं है।

मालकियत नहीं, इनाम

यही बात दूसरी तरह से समझानी हो, तो कहना होगा कि भूमि मानव-समाज को ईश्वर का दिया हुआ इनाम है। अर्थात् आज के पट्टेदार केवल इनामदार हैं। इनामी हक खरीदा या बेचा नहीं जा सकता। जिसे इनाम मिला हो, वही उस हक का उपभोग कर सकता है। आज जो भूमि-हीन कृषि-मजदूर या असामी समझे जाते हैं, वे भी असल में इनामदारों के हिस्सेदार ही हैं। उनकी असहाय और अज्ञान दशा में जब वे नाबालिग और असहाय थे, तब उनका अधिकार दूसरों ने हड़प लिया था। अब वे बालिग और समर्थ हो गये हैं, इसलिए उनका वह अधिकार अब उन्हें लौटा देना है।

मर्यादित स्वामित्व

इसका अर्थ यह होता है कि भविष्य में भूमि का संपूर्ण स्वामी कोई भी नहीं रहेगा। भूमि मनुष्य के स्वामित्व की वस्तु नहीं है। भूमि-हीनों को जो भूमि मिलेगी, वह भी स्वामित्व के अधिकार से नहीं मिलेगी, बल्कि योग्यता के अधिकार से मिलेगी। जब तक वे उस भूमि को अच्छी तरह से कमायेंगे और जब तक उनके पास जीविका का और कोई अधिक लाभदायी साधन नहीं होगा, तभी तक उनके पास भूमि रहेगी। वे उसे बेच नहीं सकेंगे या ठेके पर किसी और को देकर वे खुद दूसरे किसी रोजगार के लिए जा नहीं सकेंगे।

इसीका अर्थ है "सबै भूमि गोपाल की"—सारी जमीन ईश्वर की है। अर्थात् गाँव की, समाज की यानी सबकी। सबके

सुभीते की दृष्टि से या तो उसका वितरण हो या उसकी सामुदायिक जोत हो। उस पर कोई अपना निजी अधिकार नहीं रख सकेगा। पैसे सुरक्षित रखने का आज तक जमीन एक निरापद साधन था। अब वह उस रूप में नहीं रह सकती।

मालकियत बनाम लियाकत

साम्राज्यशाही या राजशाही को पीछे छोड़कर अब हम लोकशाही के रास्ते पर चल रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि अब मालकियत की जगह लियाकत लेगी। मालकियत विरासत में मिलती है लेकिन लियाकत हरएक को अपने प्रयत्न से प्राप्त करनी पड़ती है। आज तक राजा का पुत्र राजा हुआ, दीवान का बेटा दीवान हुआ, कोतवाल का लड़का कोतवाल और चपरासी का लड़का चपरासी हुआ। क्योंकि लोगों की यह धारणा रही कि योग्यता भी रक्त के साथ विरासत में मिलती है। ऐसी अन्याय की परम्परा चलती आयी। योग्यता भी खानदान से निर्धारित की जाती थी और अयोग्यता भी खानदान से ही निर्धारित होती थी। "यद्यपि ब्राह्मण हो भ्रष्ट, तथापि तीनों लोकों में श्रेष्ठ"—ऐसी भोली धारणा ब्राह्मणेतरों की भी थी; बल्कि यह कल्पना थी कि शूद्र संस्कृत उच्चारण कर ही नहीं सकते। (उन्हें वेदाधिकार नहीं है, इसके यही माने हो सकते हैं; क्योंकि वेदों का अर्थ तो करने की जरूरत किसीको भी नहीं थी!) किंतु अब ये सब कल्पनाएँ भ्रमपूर्ण सिद्ध हो चुकी हैं। अब आनुवंशिक परंपरा के स्वामित्व की कल्पना का जीवन के हर क्षेत्र में से निराकरण हो गया है। पहले देशमुख का लड़का ही देशमुख हो सकता था, लेकिन अब कलेक्टर के लड़के को क्लर्क का काम भी स्वीकार करना पड़ता है और चपरासी का लड़का उसके ऊपर का हाकिम या कलेक्टर बनकर आता है। आज लोकशाही अर्थात्

योग्यता के अनुसार अधिकार का तत्त्व सर्वत्र चरितार्थ हो रहा है। केवल सर्वे नंबर के राज्य अभी वंश-परंपरागत अधिकार पर चल रहे हैं। अर्थात् अब उनके दिन भी लद गये हैं।

द्रौपदी की कहानी

मेरे इस विवेचन पर कोई यह आपत्ति करेगा कि "जिन्होंने अपने परिश्रम से कमाया, पैसा लगाकर या जरूरत होने पर दूसरों से ऋण लेकर भी हाल में ही जमीन खरीदी, उन जमीन-मालिकों के साथ इसमें विश्वासघात होता है, वे किराये के लिए मकान बनाते, शेयर खरीदते या कम-से-कम बैंकों में पैसा जमा करते, तो उन्हें निर्बाध रूप से आमदनी होती रहती और वे अपनी पूँजी अपनी मर्जी के मुताबिक काम में ला सकते थे। परंतु आपके इस भूदान-यज्ञ के कारण और सभी तरह से मुसीबत बढ़ानेवाले कानून की बदौलत सिर्फ जमींदार-वर्ग ही पिस रहा है। आज कानून बना है कि मालिक को सिर्फ छठा हिस्सा ही ठेके के रूप में मिलेगा। इसी तरह के दूसरे कानून भी बनते चले जाते हैं। इसलिए कोई जमीन बेचना चाहे, तो खरीदार की भी हिम्मत नहीं होती।

ऊपर की आपत्ति में जितना तथ्यांश है, उतना हमें भी मंजूर है और इस नयी नीति के कारण जिन लोगों को मुसीबत का सामना करना पड़ता है, उनके लिए हमें सहानुभूति भी है। किंतु हरएक सुधार एक प्रकार की क्रांति ही होता है और क्रांति के चक्कर में कुछ व्यक्ति या वर्ग पिसते हैं। ऐसे लोगों को हरजाना या मुआवजा देने के लिए नहीं; बल्कि उनको हतवीर्य होने से बचाने के लिए, उनकी कुछ सहायता अथवा मार्ग-दर्शन समाज या सरकार अवश्य करे। हम व्यक्तिगत रूप से यह स्वीकार करते हैं कि सुधारों का जो लोग प्रतिपादन करते हैं, उन्हें उन सुधारों के कारण

कुछ लोगों पर आनेवाली विपत्तियों के निराकरण का प्रयत्न भी करना चाहिए। आपद्ग्रस्तों को भी चाहिए कि वे अपने संकीर्ण स्वार्थ के कारण सुधारों के विरोध का पाप न करें। उदाहरणार्थ, शराब-बंदी के कारण शराबवालों का व्यवसाय खतम हो गया और वे बेकार हो गये। किंतु शराब-बंदी का जो आंदोलन हुआ, वह उन्हें हानि पहुँचाने के लिए नहीं किया गया; बल्कि लोक-कल्याण की कामना से किया गया। अतएव उन्हें चाहिए कि वे इस शुभ कार्य का विरोध न करें। साथ ही साथ सरकार तथा समाज को भी चाहिए कि अन्य उपयुक्त व्यवसायों को करने में शराब के व्यापारियों की सहायता करे। भारत को स्वराज्य मिला, देशी राज्य विलीन हुए और गोवा-मुक्ति का आंदोलन जारी है। इन सबके कारण क्या कम लोगों पर मुसीबतें आयी होंगी या आनेवाली होंगी, परंतु सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए यह आवश्यक था और है कि उन सभी स्वार्थों का निराकरण हो, जो अन्याय्य सिद्ध हो चुके हैं। उसी प्रकार भूदान-यज्ञ की बदौलत अगर कोई मुसीबत में पड़ता है, तो उसे भी विवेक से काम लेना चाहिए।

भूमि निजी स्वामित्व की वस्तु नहीं है। क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं है। यह विचार आज नया-सा भले ही प्रतीत हो, किंतु इससे पहले भी ऐसे ही कई नये-नये विचारों को अपनाकर मानव-समाज ने सुधार की या क्रांति की ओर (दोनों एक ही हैं) कदम बढ़ाते हुए प्रगति की है।

उदाहरणार्थ, स्त्री भी किसी समय स्वामित्व की या सौदे की वस्तु या सम्पत्ति मानी जाती थी; लेकिन अब वह वैसी नहीं मानी जाती। हजरत मुहम्मद पैगम्बर के पूर्व अरब लोगों में ऐसी प्रथा थी कि पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र को उसके पिता की संपत्ति के साथ उसकी सौतेली माताएँ भी, पत्नियों के नाते, विरासत में

मिलती थीं। हमारे यहाँ भी यह प्रथा थी कि विधवा भौजाई से देवर विवाह करता था। सुग्रीव ने वालि का वध करने के बाद उसके राज्य के साथ उसकी पत्नी अर्थात् अपनी भौजाई पर भी कब्जा कर लिया। पांडवों ने तो द्रौपदी की बाजी लगा दी और उसे हार गये। तब द्रौपदी अपने वस्त्राभूषणों सहित दुःशासन के कब्जे में गयी। वह उस मालकियत के हक के आधार पर भरी सभा में द्रौपदी का अपमान करने लगा। पांडव महाशूर थे। किन्तु इकरार से उनके हाथ बँधे हुए थे। कौरवों को इकरार के कानून का दृढ़ आधार था। प्रचलित कानून के आगे द्रौपदी विवश थी। ऐसे संकट के समय उसने ईश्वरीय कानून का आवाहन किया। भगवान् श्रीकृष्ण दौड़कर आये और उन्होंने जुआड़ियों के आपसी इकरार को तोड़कर द्रौपदी को उसके पतियों के सिपुर्द कर दिया।

उसी प्रकार यह भूमि माता है। किसान उसके औरस पुत्र हैं। इन पुत्रों ने शायद पेट के लिए, शायद व्यसनों के लिए या जूए के लिए भी, किये हुए कर्ज के कारण तथा ब्याज में उसे साहूकार के हाथ बेच दिया होगा। साहूकार की उस पर कानूनी मालकियत कायम हो गयी है। किंतु वह अपनी मुक्ति के लिए ईश्वर का आवाहन कर रही है।

और वह प्रभु कहीं दूर से, वैकुण्ठ से गरुडारूढ़ होकर नहीं आनेवाला है। सज्जन का हृदय ही प्रभु का सिंहासन है। मनुष्य मात्र ही सज्जन है। साहूकारों के हृदय में भी प्रभु निद्रित है। उस प्रभु को जगाने के लिए ही हम यह प्रभाती गा रहे हैं। हमारी भक्ति वास्तविक होगी तो प्रभु दौड़कर आवेंगे और भूमि-माता को उसके विछुड़े हुए लालों के साथ मिला देंगे।

हिमालय में पंगवाल नाम की एक छोटी आदिवासी जाति है। वहाँ स्त्री-पुरुषों का अनुपात यह है कि हर तेरह पुरुषों की

संख्या के लिए स्त्रियों की संख्या बारह है। इसके अलावा एक पुरुष के कई स्त्रियों के साथ विवाह होने की प्रथा प्रचलित है। परिणाम यह होता है कि आधे पुरुषों के विवाह होते हैं और बाकी पुरुषों को जबरन ब्रह्मचारी रहना पड़ता है। इसलिए अनाचार और अनर्थ पैदा होना अनिवार्य ही है। उस जाति के नेताओं को अब इस पद्धति की अवांछनीयता का भान होने लगा है।

भूमि का विषम विभाजन भी इसी प्रकार अनर्थावह है। तेलंगाना में उस विषमता को दूर करने के लिए उतने ही अनर्थकारक उपाय से काम लिया जा रहा था। परंतु भारत का यह सद्भाग्य है कि ठीक समय पर विनोबा का उदय हुआ और वे उन प्रयत्नों को कल्याणकारी मार्ग पर मोड़ सके।

गुलामी का आख्यान

जैसे स्त्री एक समय विक्रय की वस्तु थी, वैसे ही पुराने जमाने में माँ-बाप अपने बच्चे भी बेचते थे। गुलामी की प्रथा का आरंभ इसी तरह हुआ। एक गरीब के संतानें हैं, पर उन्हें खिलाने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। ऐसी अवस्था में उससे अपने बच्चों के कष्ट देखे नहीं जाते। वह सोचता है कि एकाध बच्चा किसीको बेच क्यों न दिया जाय ? किसी बाप को अपना बच्चा बेचने का शौक थोड़े ही होता है, किन्तु क्या करे ? घर में बच्चे की शोचनीय हालत देखते रहने की अपेक्षा यदि किसी समझ-बूझवाले लड़के को बेच दिया जाय तो वह रोटी से लग जायगा और उसकी जो कीमत आयेगी, उससे घर के अन्य बच्चों को भी कुछ समय तक जिलाया जा सकेगा। इस तरह हिसाब करने पर गरीब-नासमझ माँ-बाप अपनी संतान साहूकारों के हाथ बेच डालते थे और यह सौदा दोनों पक्षों के लिए लाभदायी होता था। बाप को पैसे मिले—

विका हुआ लड़का रोटी से लगा। देह पर कपड़ा, कंवल, पनही, विस्तर, ओढ़ना, कभी कोई बीमार हुआ तो दवा,—किसी चीज की कमी नहीं रही। साहूकार को भी थोड़ी कीमत में स्थायी और हुक्मी, एक ही नहीं, बल्कि हर पीढ़ी में एक के पाँच, पाँच के पचीस—इस प्रकार वढ़ती संख्या में नौकर मिलते गये। अतएव मालिक नौकरों को भलीभाँति खिला-पिलाकर हृष्ट-पुष्ट करते थे (हम बैलों को करते हैं, उससे भी अधिक चिन्ता से)। वे उसका व्याह भी कर देते। घर में गुलामों की संख्या यदि अधिक हो जाती, तो उनमें से आवश्यकता के अनुसार रखकर शेष को वेच डालते थे। इस तरह कमाई भी हो जाती। प्रायः सारे मालिक गुलामों से प्रेम का व्यवहार करते थे। और गुलाम भी अपने स्वामी के प्रति कृतज्ञ रहते और ईमानदारी से काम करते थे।

गुलामी की यह प्रथा सदियों तक वड़े मजे में चलती रही, वढ़ती गयी और फलती गयी। गुलामों का क्रय-विक्रय वड़े पैमाने पर होता था। क्रय-विक्रय करनेवाले दलाल भी हुआ करते थे। उनका व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय रूप में चलता था।

किंतु वाद में यह प्रथा क्षीण होती गयी। अपने एकाध-दो गुलामों से मालिक दया का सलूक कर सकता था, लेकिन पेशेवर दलालों का काम इस तरह दया के व्यवहार से नहीं चल सकता था। और गुलाम भी अव पहले की तरह नहीं रहे थे। उनके भी सींग निकलने लगे। वाप के यहाँ किस तरह भूखों मरना पड़ता था और मालिक के यहाँ आने पर भरपेट खाने के लिए किस तरह मिलने लगा, यह सारी पुरानी वात शुरू के गुलामों के नाती-पोते भूल गये। वे हिसाब करने लगे कि मेरे दादा को मालिक के दादा ने नव्वे साल पहले चालीस रुपये में खरीदा। शुरू में एक, वाद में पाँच और अव तो हम पंद्रह नौकर दिन-रात इस मालिक के घर में काम कर रहे हैं। खा-पीकर दो आना हर

रोज की मजदूरी मानी जाय तो भी क्या नब्बे वर्ष में उसके चालीस रुपये अदा नहीं हुए ? हम मुफ्त में इनका काम क्यों करें ? इस तरह वे काम से बचने में हीले-हवाले करने लगे। नतीजा यह हुआ कि साहूकार के लिए गुलामों से काम लेना फायदेमंद नहीं रह गया। गुलामों से तो रोजी लेकर काम करनेवाले आजाद मजदूर ही अच्छे, ऐसा मानने की नौबत आयी। 'ये खायेंगे प्रतिदिन रुपये का, काम करेंगे बारह आने का और उनकी देख-रेख तथा व्यवस्था-खर्च होगा तेरह आने का। इससे यही समझना बेहतर होगा कि इनके लिए दी हुई कीमत एकबारगी फजूल गयी। ये भाग जायें तो भी अच्छा होगा।' पर वे न तो भागते थे और न काम ही करते थे ! जल-मार्ग से जहाजों द्वारा दूसरे देशों में जब उनका निर्यात होता था, उस समय कुछ गुलाम अपने प्राणों की परवाह न करते हुए समुद्र में कूद पड़ते थे। हाथ-पाँव में वजनदार बेड़ियाँ होने के कारण वे सीधे समुद्र की तह में ही पहुँच जाते थे। उन्हें बाहर निकालना भी असंभव हो जाता था। इस प्रकार बेचारे दलाल का नाहक नुकसान होता था। इसलिए उसको भी इस व्यापार के लिए कोई उत्साह नहीं रह गया।

इधर सहृदय मालिकों से और विशेषकर हमारे जैसे कंगाल समाज-सुधारकों से गुलामों की यह पराधीनता देखी नहीं जाती थी। घर में गुलामों की संख्या बढ़ने पर मालिक उनमें से दो तगड़े भाइयों को हफ्ते के बाजार में बिक्री के लिए भेज देते। भिन्न-भिन्न देशों के दो ग्राहक दोनों भाइयों को खरीदकर अपने-अपने घर ले जाते। दूसरे शब्दों में हम जिस तरह बैलों को बेच देते हैं, उसी तरह का यह सौदा भी होता था। किंतु बैल एक-दूसरे का नाता नहीं पहचानते। उनकी माँ भी बछड़े का दूध पीना बंद होते ही उसे भूल जाती है। आदमी की स्थिति वैसी नहीं है। उसे कौटु-

त्विक प्रेम का ज्ञान तथा बोध रहता है। बाजार में विकनेवाले गुलाम भाई और उनकी माँ एक-दूसरे के गले से लिपटकर 'अब हम इस जन्म में एक-दूसरे को फिर से देख भी नहीं सकेंगे' इस विचार से फूट-फूटकर विलाप करते थे। उनका वह विलाप सुनकर आसपास के लोगों का भी जी भर आता था। वे मन में निश्चय करते कि गुलामी की यह पापी प्रथा नष्ट होनी ही चाहिए।

इस प्रकार गुलामी की प्रथा के दिन लद गये। मालिक को अब न तो वह आर्थिक दृष्टि से लाभकारी प्रतीत होती थी और न पारमार्थिक दृष्टि से मन का समाधान करती थी। स्वयं गुलामों के लिए उनकी गुलामी शरीर-सुख की दृष्टि से कष्टदायक ही थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नियमित काम, पेट भर अन्न, तन भर कपड़ा मिलता था, कोई कमी नहीं थी, कोई फिक्र नहीं थी। अमेरिका में जब कानूनन गुलामी बंद हुई और मालिकों ने अपने गुलामों को वरी (डिसमिस) किया, तब कई गुलाम तो रोये भी। सारी उम्र से जो कभी अपनी जिम्मेवारी पर रहे ही नहीं थे, उन्हें अपनी स्वतंत्रता से बहुत चिंता हुई। कहाँ रहें, क्या खायें? सारी बातों की कठिनाई! अपनी गोशाला में सारी उम्र रहनेवाले बैल से यदि हम एक दिन कहें, 'अरे नंदीराज, आज तक हमने तेरे कंधे पर जूआ रखकर, तुझसे गुलाम की तरह काम लिया, पर आज हमें उसके लिए पश्चात्ताप होता है। आज २६ जनवरी है, स्वातंत्र्य-दिवस है, आज से हम तुझे पूरी तरह आजाद करते हैं। जहाँ तेरा जी चाहे घूमना और चरता रह। हमारा तुझ पर किसी प्रकार का बंधन नहीं है। आवश्यकता होगी तब हम तुझे हल या गाड़ी खींचने के लिए रोजी देकर बुला लेंगे। तुझे लाभदायक मालूम हो तो आ जाना, नहीं तो जहाँ मर्जी हो वहाँ जाना।' तब बेचारा वह बैल कहाँ जायगा? दिन भर इधर-उधर वक्त काटकर शाम को वापस खूँटे

पर आ पहुँचेगा। वैसी ही स्थिति उन गुलामों की हुई। अर्थात् उनकी जो मुक्ति हुई वह उनके शरीर-सुख के लिए नहीं, भूत-दया के लिए भी नहीं; अपितु मानवता के तकाजे के कारण हुई। मुक्ति गुलामों की नहीं, मालिकों की ही हुई।

ठेके पर जीनेवाले जमीन-मालिकों को मैं यही समझा देना चाहता हूँ कि इस भूदान-यज्ञ के द्वारा आपसे कुछ छीनने का हमारा इरादा नहीं है। भूदान-यज्ञ आपसे कुछ लेने नहीं, बल्कि आपको कुछ देने के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। वह आपको चक्कर में डालने के लिए नहीं है, बल्कि आपकी उलझनें सुलझाने के लिए है।

जमाना तेजी से बदल रहा है। समय के साथ मनुष्य भी बदल रहे हैं। किसान पहले के नहीं रहे, मालिक भी पहले के नहीं रहे, दुनिया भी पहले की नहीं रही। पहले के ज़माने में जो हो सका, उपयुक्त माना गया, मुबारिक हुआ, वह अब नये जमाने में निबाहा नहीं जा सकेगा, नहीं चलेगा और उपयुक्त तो हर्गिज नहीं होगा।

गुलामी खतम हुई और उसकी जगह काश्तकारी आयी। काश्तकारों में गुलामी की जोखिम तो पूरी-की-पूरी है; किंतु सुख कुछ भी नहीं है। जैसे बड़ा भाई छोटे भाई को अलग कर देता है, उसी तरह धूर्त मालिकों ने गुलामों को अलग कर दिया। किंतु उन्हें गुजारे के लायक भूमि भी नहीं दी। इस उलटफेर में मालिकों ने अपना ही उल्लू सीधा किया। काश्तकारों को एक-एक साल के लिए जमीन ठेके से दी। पहले गुलामों की गुजर-बसर की चिंता मालिक को ही करनी पड़ती थी। अब काश्तकार को कितनी बचत होती है, उसमें वह अपनी गुजर-बसर कर सकता है या नहीं, इसकी जिम्मेवारी मालिक पर नहीं रही। खेती में फायदा हो या न हो, फसल आये या न आये, मालिक के लगान को कोई खतरा

नहीं। काश्तकार को गुलामी के सारे खतरे उठाने पड़ते हैं, लेकिन सुख कुछ भी नहीं मिलता। गुलाम को स्वतंत्रता तो मिली, किंतु वह स्वतंत्रता जीने की नहीं, वरन् स्वतंत्रता से मरने की।

हरएक मालिक बड़ी अनुकम्पा से कहा करता है, 'मैं अपने असामियों पर कई प्रकार से दया करता हूँ, चाहे जितनी रिआयत और छूट देने के लिए हमेशा तैयार रहता हूँ।'

किंतु असामी अब पहले जैसे नहीं रहे। पहले वे ही हमसे पूछने आते थे, 'मालिक, लगान लेने कब आते हैं? उसे लेकर हमें शीघ्र मुक्त कीजिये। नहीं तो लगान देने के लिए रखा हुआ अनाज घरवाले ही खा जायँगे।' लेकिन अब लगान की वसूली करने जाते हैं, तो ये दर्शन देने को भी तैयार नहीं होते। चार-चार दिन सारे गाँव में घूम-घूमकर भी हमें खाली हाथ लौटना पड़ता है।

यह सब स्वाभाविक ही है। पहले असामी जमीन-मालिक का अन्न खाते थे, पर अब मालिक ही असामियों का अन्न खाते हैं। यह बात इन दयालु मालिकों के ध्यान में नहीं आती। मालिक कहता है, 'मैं दयालु हूँ।' असामी कहता है, 'यह जोंक है। बाल-बच्चों ने और स्त्री ने धूप, बारिश और जाड़े में मेहनत कर धान पैदा किया, उनके मुँह का कौर निकालकर मैं इसका घर क्यों भरूँ? मेरे दादा ने बैल खरीदने के लिए इस साहूकार से चालीस रुपये लिये, उसके व्याज की रकम बढ़ती गयी और उसके हिसाब में इसने मेरा यह सोने के समान सुंदर खेत लेकर मुझे अपना असामी बनाया। उसके उपरांत गत चालीस वर्षों से लगान के रूप में मैंने उसे कम-से-कम चार हजार रुपये तो दिये ही होंगे। अब मुझ पर उसका कुछ देना नहीं आता। इस सबका परिणाम यह है कि मालिक के पल्ले नाज तो पड़ता ही नहीं, लेकिन थकान और गालियाँ अवश्य उसे भरपूर मिलती हैं।

आज कितने ही परिवार केवल जमीन की मालकियत के कारण मिट्टी में मिल रहे हैं। उनसे पूछिये कि 'आपका व्यवसाय क्या है ?' तो कहेंगे, 'पट्टेदारी', 'लगान वसूली'। कागज-पत्र, मिसलें, नकलें, बेलिफ पटवारी—इन सबकी सरबराई, अदालतों के चक्कर, साहूकारों के तकाजे, बिरादरी के झगड़े आदि की बदौलत बेचारों का दम निकला जा रहा है। और यह सब सहें किसलिए ? पड़ोसी का बैर प्राप्त करने के लिए। जमीन-जायदाद है, इसलिए लड़कों को शिक्षा भी नहीं दी और काम करने को नौकर-चाकर हैं, इसलिए चिराग की बत्ती तेज करने का अभ्यास भी नहीं रहा। बड़प्पन निबाहने के लिए ऋण हो गया और जमीन आदि सब रेहन रखनी पड़ी। ऐसी अवस्था लगान पर जीवन बितानेवाले बहुसंख्य जमीन-मालिकों की हो गयी है। गुलामी की प्रथा के कारण रोम की संस्कृति लुप्त हो गयी। वही अवस्था प्रत्येक परोपजीवी वर्ग की हुए बिना कैसे रहेगी ? इस नियति से मालिक-वर्ग को बचाने के लिए भूदान-यज्ञ है।

निःशूद्र पृथ्वी

यह सच है कि मानव-जाति के भिन्न-भिन्न वंशों और घरानों में बुद्धि, भावना तथा कर्तृत्व का विकास भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ। कम या अधिक विकास की अवस्था के अनुरूप मालिक और गुलाम, जमींदार और असामी, मुकद्दम और मजदूर, राजा और प्रजा आदि संबंध का होना उचित ही था। किंतु आज का युग समानता का, बंधुता का और सहयोग का है। अब किसी भी प्रकार की विषमता सही नहीं जा सकती। हमारे ये कनिष्ठ बंधु अब बालिग हो गये हैं और सम्मिलित सम्पत्ति का अपना हिस्सा माँग रहे हैं। ऊपर के वर्गों को चाहिए कि वे संतोषपूर्वक उन्हें उनका भाग दे दें। अब कनिष्ठों के लिए कनिष्ठता जितनी असह्य

होगी, उसकी अपेक्षा स्वयं वरिष्ठों के लिए वरिष्ठता कहीं अधिक असह्य होगी। राजाओं को ही राजत्व से और ब्राह्मणों को वर्ण-गुरुत्व से घृणा होने लगी है।

मेरी अपनी तो यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि पृथ्वी निःशूद्र हो जानी चाहिए। शूद्र का अर्थ है, दास। पर अब तो हम दासों का मुँह भी नहीं देखना चाहते। तेली, माली, अछूत और कुर्मी तो हमारे सगे भाई हैं। वे अपने पल्ले में हीनता बाँध लेने को तैयार हों, तो भी मैं उन्हें उसे नहीं बाँधने दूँगा। क्योंकि मैं अपने बदन से उच्चता को भी चिपकने देना नहीं चाहता। उच्चता भी एक प्रकार का कलंक ही है। यह अछूत है, ऐसा मालूम होते ही अगर उसके प्रति कोई तुच्छता दिखाने लगे, तो उस अछूत को गुस्सा आयेगा। इसी तरह मैं ब्राह्मण वंश में पैदा हुआ हूँ, इसलिए मेरा कोई आदर करने लगे, तो वह भी मुझे अपना अपमान ही प्रतीत होता है। क्योंकि उसका अर्थ यह होता है कि मेरा व्यक्तिगत मूल्य कुछ भी नहीं है। शूद्र से मतलब है, हुक्मबरदार।

आज का समानता का युग हाकिम और हुक्मबरदारी या फिरकावारी हर्गिज गवारा नहीं कर सकता।

मनुष्य मात्र में पारमार्थिक आकर्षण होता ही है। परमार्थ के लिए यह आकर्षण लगानदार को लगानदार और मजदूर को मजदूर रहने देने के लिए राजी नहीं है। हमारी गोपुरी में लोग मजदूरी का काम माँगने आते हैं। मैंने यह निश्चय किया है कि उनसे कहूँ कि तुम हमारी साझेदारी में काम करो या फिर तुम्हें अलग जमीन देता हूँ। स्वतंत्रता से उसे जोतो और जो उसकी उपज हो उसे तुम हमें लगान दिये बगैर खाओ। हमें मजदूर नहीं चाहिए।

तात्पर्य यह कि पारमार्थिक दृष्टि से मालिक-मजदूर का

यह द्वन्द्व मिटा देना चाहिए। आज ऐसा समय आया है कि मालिकों का स्वार्थ भी उसीमें है। 'मालिक-मजदूर' का कर्मधारय समास'[1] हुए विना अव गुजारा नहीं है। आज काश्तकारों से लगान लेना और मजदूरों से काम लेना मुश्किल और घाटे का सौदा हो गया है और हो रहा है। वंधुता तथा सहयोग ही उसका इलाज है। मालिक चाहता है काम और मजदूर चाहता है दाम। फिर दोनों में कशमकश शुरू होती है। अव मालिक को ही मजदूर वनना चाहिए और मजदूर को मालिक वनाना चाहिए। दोनों को समान सतह पर आ जाना चाहिए। फिर दोनों मिलकर शराकत में काम करें या अलहदा-अलहदा काम करें, यह सवाल सुविधा तथा अपनी-अपनी रुचि का होगा।

सूदखोरी

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, जमीन की मालकियत का एक रूप है, जवरदस्ती का कब्जा। निरन्तर युद्ध के तथा अशांति के पुराने जमाने में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के न्याय का ही प्रभाव था। विजेता अपने सरदारों को वड़ी-वड़ी जागीरें इनाम में देते थे। कुछ लोगों को देशमुख, देशपांडे, देसाई, इनामदार, मनसवदार वगैरह वनाते थे। ये अधिकारी राजसत्ता के और अपने वाहुवल के भरोसे अपने-अपने क्षेत्र की प्रजा पर

---

१ 'मालिक-मजदूर'='मालिक और मजदूर', यह हुआ 'द्वंद्व समास'। 'जो मालिक वही मजदूर', यह हुआ 'कर्मधारय समास'। 'माँ-वाप', यह है 'द्वंद्व समास'। 'माँ-वाप, सरकार', यह है 'कर्मधारय'। द्वन्द्व का अर्थ झगड़ा भी है। कर्मधारय अर्थात् काम सम्पन्न करने वाला, काम को अंजाम देनेवाला।

धाक जमाते थे, कर वसूल करते थे तथा बेगार लेते थे। भूमि के स्वामित्व के इतिहास का यह अध्याय निर्विवाद है। किन्तु इसके सिवा दूसरी एक वैध और सभ्यता की प्रणाली से भी किसानों की जमीन साहूकारों तथा धनवानों के कब्जे में गयी। वह है साहूकारी और सूदखोरी की प्रणाली। उसके पीछे भी थोड़ी-बहुत मुठमर्दी न रही हो, ऐसी बात नहीं है। परन्तु उद्योग, मितव्ययता और संयम आदि सद्गुण भी लोभ के जाल में फँसने पर किस प्रकार अनर्थकारक होते हैं, इसका स्पष्ट उदाहरण यह सूदखोरी की साहूकारी है।

शुरू में भूमि जोतनेवाले की ही थी। पर उसमें भी जो प्रथम आये, उन्होंने अच्छी और पर्याप्त भूमि पर कब्जा कर लिया। जो बाद में आये, उनके हिस्से में निकृष्ट तथा अपर्याप्त जमीन आयी। हरएक अपनी-अपनी जमीन का मालिक था। और किसीको किसीसे कोई लेना-देना नहीं था। किन्तु निकृष्ट जमीनवाले किसानों को सावन-भादों में अन्न की कमी पड़ती थी। तब उन्हें दूसरे खुशहाल किसानों से मदद की याचना करनी पड़ती थी। इससे दूसरों की मुसीबत से फायदा उठाने की लोभी वृत्ति के लिए मौका मिला। अर्थात् इससे शोषक साहूकारी पैदा हुई।

साहूकारी के पोषक एवं शोषक, उपकारक तथा अपकारक, धर्म्य एवं अधर्म्य, बट्टेखाते की और ब्याजखोरी की, इस प्रकार की दोनों पद्धतियाँ संसार में चल रही हैं। 'धर्म्य साहूकारी' वह है, जो पड़ोसी की अड़चन के समय दौड़कर उसकी सहायता करती है और कर्जदार को विकट मुसीबत से उबारने में अपने को कृतार्थ मानती है। किन्तु यह साहूकारी बट्टेखाते की साहूकारी होती है। ऐसी उपकारक साहूकारी भी संसार में सदा से सर्वत्र चलती आयी है। किन्तु उसे संगठित व्यवसाय का रूप कभी प्राप्त नहीं होता। वह साहूकारी कभी अदालत के दरवाजे पर कदम

नहीं रखती। इस साहूकारी में व्याज नहीं होता। बल्कि मूलधन में ही कुछ छूट देने की रीति है।

यह उचित भी है। मेरी जरूरत पूरी होने पर बचा हुआ अनाज अगर मेरा पड़ोसी उधार न ले जाता, तो उसे मेरे घर में चूहे ही तो खाते या वह सड़ जाता। अर्थात् साल के अन्त में यदि वह मुझे एक मन के बदले सैंतीस सेर नया अनाज लौटाता है, तो उचित ही होगा।

परन्तु शोषक साहूकारी तो सवाया लेती है। नतीजा यह होता है कि जिस किसान को पिछले साल में एक मन का घाटा आया, उसे फसल काटते ही उस अपर्याप्त फसल में से भी सवा मन अनाज निकालकर देना पड़ता है। फलतः आगामी वर्ष में उसे सवा दो मन का घाटा आता है, और साढ़े बाईस सेर व्याज में देने पड़ते हैं। तीसरे साल घाटा तीन मन साढ़े बत्तीस सेर और व्याज अड़तीस सेर दस छटाक। इस प्रकार कर्जदार की गृहस्थी उत्तरोत्तर गिरती जाती है और अन्त में साहूकार उसकी भूमि ही मोल ले लेता है और प्रथम जो व्याज लेता था, उसकी जगह अब लगान लेने लगता है। जिसका निर्वाह सारी खेत की पूरी उपज में नहीं होता था, उसका निर्वाह अब लगान देने के उपरान्त बची हुई उपज में किस तरह होगा ? अर्थात् उसे बैल बेचकर बटाईदार से कृषि-मजदूर बनना पड़ता है और पुराने जमाने में तो उसे एक के बाद एक अपने लड़के भी बेचने पड़ते थे। इस प्रकार गरीबों की यह गृहस्थी बे-पेंदे की होती है। उधर साहूकार भी स्वयं खेती करना छोड़ देता है और लगान वसूली का और मजदूरों से खेती करवाने का काम करता है। किन्तु थोड़े ही समय में वह गाँव के नीरस जीवन से ऊबकर शहर का रास्ता पकड़ता है। वहाँ उसे वकालत में भी अच्छी-खासी आमदनी होती है। गाँव से व्याज और लगान तो मिलता ही रहता है और यह भी आय हुई, तो

लड़के को बैरिस्टर होने के लिए इङ्गलैंड भेजना भी संभव हो जाता है। लड़का बैरिस्टर होकर आता है, हाईकोर्ट की सनद लेता है और अब गाँव में ब्याज तथा लगान वसूल करने का काम किसी कारिंदे को सौंप देता है या देहात की अपनी वह जायदाद नजदीक के छोटे शहर के किसी वकील के हाथ, पेन्शनर के हाथ या अफ्रीका से पैसे कमाकर लौटे हुए किसी व्यक्ति के हाथ बेचकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार किसानों की जमीनें वैधानिक पद्धति से साहूकारों या धनवानों के कब्जे में जाती रहती हैं। ब्याजखोरी का अर्थ है, जो संकट में पड़े उसे और गहराई में ढकेल देना, जो पिछड़ गया हो उसके पैरों में भारी पत्थर बाँध देना।

ऐसी बात नहीं है कि धर्म्य साहूकारी हरएक गरजमंद को कर्ज देगी ही। वह तो उचित कारणों के लिए ही कर्ज देगी। शराबखोरी, जूआखोरी या आलस में जीवन बिताने के लिए या शादी-ब्याह के लिए भी कर्ज माँगनेवाले को कर्ज देने से इनकार करना, उसके साथ उपकार करना ही है। आकस्मिक संकट-निवारण के लिए या उत्पादन-कार्य के लिए जैसे कुँआ खोदने, मोट लगाने या बैल खरीदने के लिए ही ऋण देना उचित है। प्रतिवर्ष सावन में खाने के अनाज के लिए ऋण देना उचित नहीं है। सदा की कर्जदारी पर जड़-मूल का इलाज ही करना चाहिए। भूमिदान तथा ग्रामोद्योग संपूर्ण न होने पर भी महत्त्वपूर्ण तथा शर्तिया उपचार तो हैं ही।

शोषक साहूकारी यानी सूदखोरी का निषेध तो सभी धर्मों ने किया है। इस्लाम ने तो विशेष रूप से किया है। कहा जाता है कि उपनिषदों में भी "शमलं कुसीदम्" अर्थात् "ब्याज पाप है" ऐसा वचन है। ईसाई धर्म ने भी ब्याज का निषेध ही किया है, इसीलिए यूरोप में साहूकारी के लिए यहूदी लोग मशहूर हैं।

सामान्य मनुष्य को उद्योगशीलता तथा मितव्ययता की प्रेरणा मिलने के लिए धन-संग्रह की छूट रहना इष्ट ही है, तथापि वह धन-

संग्रह अपनी मर्यादा का उल्लंघन करे, तो वह उद्योगशीलता तथा मितव्ययता के लिए घातक भी होता है। संपत्ति का बहुत संचय होने से आलस, विलास, अलाली तथा व्यसन बढ़ते हैं। गरीबी अर्थात् अन्न-वस्त्रादि की उचित आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन भी पास में न होना तो दुर्दैव ही है। किन्तु इतनी संपत्ति का संचय होना कि उद्योग करने की आवश्यकता ही न रहे, यह और भी अधिक दुर्दैव है। बहुत कष्ट उठाकर दरिद्रता दूर करके सुखी जीवन वितानेवाले पिता के पुत्र में पिता की उद्यम-निष्ठा और कर्तृत्व बिरले ही पाया जाता है। अतएव पुत्र को उत्तराधिकार में संपत्ति देना उसको विपत्ति में ढकेलना ही है। जो पिता अपने पुत्र के लिए निर्जीव संपत्ति का नहीं, प्रत्युत विद्या, चारित्र्य, पुरुषार्थ इत्यादि जीवित संपत्ति का उत्तराधिकार रखेगा, वही उसका सच्चा हितैषी है, उसीका पुत्र पर यथार्थ प्रेम होता है। हम जिसे प्रेम कहते हैं, वह वास्तव में केवल मोह होता है। ऐसा दुष्ट प्रेम, चाहे अनजान में ही क्यों न हो, लड़के का घात करता है।

अपनी पूर्व-पुण्याई पर आज या पूर्वजों के पुण्य पर इस जन्म में सुख भोगना या बड़प्पन बघारना कम-से-कम आज तो एक तरह से अपनी अयोग्यता प्रकट करने के बराबर है। बूढ़े भी अपनी वर्तमान भलमनसाहत पर जियें, यह उत्तम पक्ष है। युवावस्था में किये पुरुषार्थ पर जीना मध्यम पक्ष है एवं पूर्वजों के कर्तृत्व पर जीना अधम पक्ष है। ताजा अन्न खाना उत्तम पक्ष है। सवेरे या दोपहर का दूसरी जून खाना मध्यम पक्ष है। लेकिन कल-परसों का वासी अन्न खाना तो दैन्य ही है।

लगान या व्याज की आमदनी वासी अन्न ही है। वह पथ्यकर नहीं है, मारक ही है। स्वहित तत्पर धर्म-निष्ठ मनुष्य सूदखोरी की शोषक साहूकारी हरगिज नहीं करेगा। मौका आने पर नुकसान की पोषक साहूकारी करेगा। और व्याज के व्यवसाय पर मिली हुई भूमि जिनकी है, उनको देकर छुट्टी पायेगा। ० ० ०

प्रश्न, शंका, आक्षेप : ३ :

भूमि ही क्यों ? ब्याज तथा लगान जब एक ही कोटि के हैं, एवं भूमि के स्वामित्व के अतिरिक्त निजी स्वामित्व के दूसरे भी नाना प्रकार हैं, तो फिर आपका रुख और मोर्चा केवल भूमि की तरफ ही क्यों है ? "जो जोते उसकी जमीन" यह अगर आपका नारा है, तो जो रहेगा उसका घर एवं जो चरायेगा उसकी गाय क्यों न हो ? सम्पत्ति के संचय पर ही बन्धन क्यों न हो ?

उत्तर—सम्पत्ति के संचय पर बन्धन आज भी है। एवं शनैः शनैः और भी लगते जायँगे। लगान-नियंत्रण की भाँति किराया-नियंत्रण कानून भी है। "सबै भूमि गोपाल की" की भाँति "संपति सब रघुपति कै आही" यह भी विनोबा कह ही रहे हैं। भूदान-यज्ञ के कदम पर कदम रखता हुआ संपत्तिदान-यज्ञ भी प्रारंभ हो ही गया है। फिर भी भूमि के समान वितरण का विशेष महत्त्व है। क्योंकि :

(१) भूमि ईश्वर-निर्मित है। मनुष्य को वह सहज में ही मिली है। अन्य संपत्ति जैसे मकान, गहने, बर्तन, सामान आदि मनुष्य ने अपने परिश्रम से बनाये हैं।

(२) भूमि मर्यादित है। संपत्ति के अन्य प्रकारों में माँग के अनुसार पूर्ति बढ़ायी जा सकती है, पर अब लावारिसी यानी जिस पर कोई अपना अधिकार नहीं बतलाता, ऐसी जमीन नहीं रह गयी है। जो जमीन है उसीका वितरण करना चाहिए।

(३) जमीन प्रतिष्ठा का साधन है। जमीन की मालकियत की जो प्रतिष्ठा है, वैसी प्रतिष्ठा पैसे की मालकियत की नहीं है।

(४) भूमि बाँटी जा सकती है। अन्य संपत्ति छिपायी जा सकती है। लेकिन भूमि उस प्रकार छिपायी नहीं जा सकती।

(५) संपत्ति के अन्य प्रकारों को चोर, आग, पानी, दीमक आदि से या बाजार भाव की तेजी-मंदी का भय है। भूमि के लिए उस तरह का भय बहुत कम है।

(६) भूमि के प्रति मनुष्य को अत्यधिक प्रेम है। मनुष्य जान देगा, लेकिन जमीन नहीं देगा। भूमि को हम 'माता' कहते हैं। उसकी गोद उसके सब बच्चों को मिलनी चाहिए।

(७) कृषि सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय है। अन्य व्यवसाय एकांगी हैं एवं उनसे मन उकता भी जाता है; पर जैसे भोजन करनेवाला भात से नहीं ऊबता वैसे ही खेती करनेवाला खेती से कभी उकताता नहीं है। यह श्रेष्ठ व्यवसाय भी सबके हिस्से में आना चाहिए।

कौन कितना भूदान दे ? एक एकड़ धान-खेती तथा चार एकड़ सूखी जमीन पाँच-छह मनुष्य के कुटुम्ब के लिए पर्याप्त समझनी चाहिए। उदाहरणार्थ, हमारे रत्नागिरी जिले में साढ़े सत्रह लाख एकड़ आबादी की जमीन है। कुल क्षेत्रफल लगभग तीस लाख एकड़ है। फिर भी पहाड़, पत्थर बाद देने पर अच्छी-बुरी खेती के योग्य भूमि लगभग तेरह लाख एकड़ होगी, ऐसा अनुमान है। अर्थात् पाँच-छह व्यक्तियों के कुटुम्ब को पाँच एकड़ जमीन देकर हम इस तेरह लाख एकड़ जमीन में अधिक-से-अधिक चौदह लाख लोगों का प्रबन्ध कर सकते हैं। अर्थात् भूमि का समान वितरण करना हो, तो इससे अधिक भूमि किसीके हिस्से में नहीं आ सकती। उससे अधिक भूमि जिनके पास है, उन्हें चाहिए कि वे अपनी भूमि का छठा भाग भूदान में दें। जिनके पास भरपूर जमीन है या जिनके पास निर्वाह के अन्य साधन हैं वे उस अनुपात में अधिक हिस्सा दें, यही उन्हें शोभा देगा। तथापि भूमि-वितरण के तत्त्व को स्वीकार कर तथा उस कार्यक्रम में भाग लेने के पहले कदम के रूप में यदि वे छठा हिस्सा देंगे, तो भी धन्यवाद के पात्र होंगे।

जिनके पास अपर्याप्त भूमि है, वे प्रतीक रूप थोड़ा-सा दान नैवेद्य की भावना से दें, तो भी पर्याप्त है। क्योंकि भूदान-यज्ञ में उन्हें ही अधिक भूमि मिलनी चाहिए। अर्थात् अपर्याप्त भूमि रखनेवाले भू-स्वामी भी खेती छोड़कर अन्य व्यवसाय करते होंगे, उन्हें तो अपनी सारी भूमि दे देनी चाहिए। भूमि रोककर न रखें। जमीन की काश्त कोई भी करे, पर वह निर्बाध रूप से करे, यही उचित, सुविधाजनक तथा लाभदायी है।

दूसरी एक दृष्टि से मैं कहता हूँ कि जिनके पास अपर्याप्त वा नाममात्र की जमीन है, वे अल्पदान देने की अपेक्षा सर्वदान, स्वामित्व-विसर्जन करें। उसका कारण बतलाता हूँ।

स्वामित्व-विसर्जन—मालकियत पर जीनेवाले और लायकी पर जीनेवाले, इस प्रकार नागरिकों के दो वर्ग हैं। मालकियत की बदौलत लियाकत पनप नहीं पाती। लोकशाही की परिपूर्णता एवं न्याय का राज्य कायम करने की दृष्टि से वंशसिद्ध स्वामित्व जैसी कोई चीज नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य पूर्वजों के नहीं, अपने निजी पुरुषार्थ के भरोसे जिये तथा समाज में उचित पद प्राप्त करे, यही न्याय-संगत है। अर्थात् मालिकी के कारण जिनकी लियाकत कुचली जा रही है उन सब लोगों को मालिकी नष्ट करने के लिए प्रतिज्ञापूर्वक आगे बढ़ना चाहिए।

थोड़ी-थोड़ी जमीन के मालिक अपनी उस मालकियत के भरोसे नहीं जीते, बल्कि वे अपनी लियाकत और सिफत के भरोसे जीते हैं। स्वामित्व के नष्ट होने से उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा, अपितु उनकी योग्यता के लिए अधिक अवसर मिलेगा। स्वामित्व उनके लिए साधक नहीं, बाधक ही है। अतएव उनकी अक्लमंदी इसीमें है कि वे उसे पूर्ण रूप से फेंक दें।

तोते को पकड़ने की बहेलियों की एक हिकमत यह है कि वे तार में एक नली पिरोकर उस नली के पास कुछ खाद्य वस्तु रख

देते हैं। खाने के लोभ में तोता नली पर पाँव रखता है। तोते के नली पर बैठते ही नली फिसलती है और गोल घूमती है, तब तोता मजबूती से नली पर औंधा टँगा रहता है। घबराया हुआ तोता समझता है कि पाँव में दृढ़ पकड़ी हुई नली ही उसका एकमेव आधार है। वास्तव में उसी कारण वह आसानी से बहेलिये के हाथ में आता है। वह नली उसका वन्धन होती है पर वह उसे अपना एकमात्र आधार समझता है।

इसी तरह अल्पभूमि के एवं अल्पबुद्धि के स्वामी कहते हैं, "हमें इसीका आधार है। वह भी छोड़ देने को आप कहते हैं?" हाँ, क्योंकि वह क्षणमात्र ही छूटता है। यह नीचे से ऊपर कूदने जैसा है। नीचे के आधार का त्याग किये बिना ऊपर छलाँग कैसे मारेंगे?

कार्ल मार्क्स के मार्मिक उद्गार यहाँ ठीक-ठीक लागू होते हैं। वे कहते हैं:

"संसार भर के किसानो, मजदूरो, उठो, जागो और क्रान्ति का स्वागत करो! इस उथल-पुथल में तुम्हारा क्या जायगा? तुम्हारे हाथ-पैर की बेड़ियाँ ही तो कटेंगी? बदले में तुम्हें मिलेगा—पृथ्वी का राज्य।

नासमझ हरिजन भी पारस्परिक उच्च-नीच भेदों को बहुत मानते हैं। ढेड़ मांग को और मांग मेहतर को अस्पृश्य समझते हैं। उतनी ही उनकी प्रतिष्ठा है, अतएव उस चुटकी भर प्रतिष्ठा को वे प्राणों की तरह सहेज-सहेजकर सँजोते हैं। उन्हें भी हम समझाते हैं और कहते हैं कि अपनी यह छिटपुट प्रतिष्ठा छोड़ दो, तो मानवता की सार्वभौम प्रतिष्ठा का तुम्हें लाभ मिलेगा।

ठीक वही न्याय अपर्याप्त जमीन के मालिकों के लिए लागू होता है। किन्तु यहाँ परिस्थिति कुछ मिली-जुली है। भूमि के विषय में अकिंचन (Have nots) वर्ग में शुमार किये जानेवाले

व्यापार-व्यवसाय में सम्पन्न (Haves) भी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त "मैं न बदलूँ पर जगत बदले" ऐसी वृथा आशा भी मनुष्य मन में रखता है।

सारांश अपर्याप्त भूमि के मालिकों का हित अर्थात् दूर दृष्टि का लाभ ही नहीं किन्तु स्वार्थ या तात्कालिक लाभ भी सारी भूमि का स्वामित्व छोड़ देने में है। वह भूमि कहीं जायगी नहीं, प्रत्युत योग्यता के अधिकार से उन्हींके पास रहेगी एवं अपनी पूर्ति में उसके हिस्से में कदाचित् अधिक भूमि भी लायेगी। जिनका जीवन स्वामित्व के अधिकार पर निर्भर है, उनके लिए ही वास्तव में अपनी बड़ी मालकियत छोड़ना कठिन है। पर छोटे मालिकों ने—और वे बहुसंख्य हैं—अपनी मालकियत के हक अगर छोड़ दिये, तो उसका सामुदायिक परिणाम प्रचंड होगा। और उनकी थोड़ी-थोड़ी जमीन का जोड़ भी बड़े-बड़े जमींदारों से प्राप्त भूमि से अधिक होगा। बड़े जमींदार उनके उदाहरण से प्रभावित होंगे और उन्हें भूमि देनी पड़ेगी। भूदान-यज्ञ के पक्ष में एक प्रचंड अहिंसक सेना तैयार होगी एवं प्रतिकूल शक्तियाँ अपने-आप आत्मसमर्पण करेंगी। थोड़ी-थोड़ी जमीन के मालिक जमीन का दान देने से पहले कुछ जमीन दान में दे दें, यह वांछनीय है।

छोटे टुकड़ों से उत्पादन घटेगा—उत्पादन घटने का कोई कारण नहीं, प्रत्युत अनुभव तो यह है कि आत्मीयता के कारण मिट्टी में सोना उगाया जा सकता है। आज भूमि को लेकर बहुत झगड़े-टंटे और रुकावटें पैदा हो रही हैं, उनका निराकरण होगा। परती जमीनें जोती जायँगी। चीन-जापान में भी छोटे-छोटे दो-दो तीन-तीन एकड़ के टुकड़े हैं और वे लोग हल का उपयोग भी नहीं करते। केवल कुदाली-फावड़ा हाथ से चलाकर खेती करते हैं और तिगुनी-चौगुनी फसल प्राप्त करते हैं।

छोटे-छोटे एवं गरीब मालिकों के लिए ट्रैक्टर, इंजन-पंप जैसे

यान्त्रिक साधनों से काम लेना फायदेमंद नहीं होगा। परन्तु यह कठिनाई सहयोग से दूर हो सकती है। कठिनाइयों के कारण सहयोग की आवश्यकता अधिक प्रतीत होगी, एवं सहयोग ठीक-ठीक और मन लगाकर होगा। आज जो सहयोगी सोसाइटियाँ चल रही हैं, उनमें सहयोग का केवल स्वांग होता है। महकमे के मुलाजिमों को भी यह आँवले की गठरी बाँधते-बाँधते नाक में दम हो रहा है।

सहयोग ठीक से नहीं होता, इसलिए कल्याणकारी पूँजीवाद की एकतंत्री (सर्वाधिकारी) सत्ता से काम लिया जाना उचित होगा, ऐसा कई लोग मानते हैं। पहले अकबर जैसे नेक बादशाहों को इसी कारण साम्राज्य-विस्तार करना था कि देश में सुव्यवस्था हो एवं पारस्परिक युद्ध तथा अनबन न रहे। आज भी रूस, अमेरिका जैसे बलिष्ठ राष्ट्रों को सारी पृथ्वी का 'प्रबन्ध' करने का महान् लोभ हो रहा है, उसी नमूने का यह प्रयत्न भी है। जिस प्रकार उसमें हित करने की लालसा सच्ची लेकिन भोली हो सकती है, उसी प्रकार वह दांभिक भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त वह वर्तमान युग के अनुकूल नहीं है। साम्राज्यशाही में भी कई लाभ थे। पर वर्तमान युग में हलकी तानाशाही की बनिस्बत भारी-भरकम लोकशाही ही हितकर साबित हुई है। इस प्रकार एकच्छत्र स्वामित्व की अपेक्षा अलग-अलग स्वतंत्र काश्तकारी ही श्रेयस्कर सिद्ध होती है। एकतंत्री व्यवस्था में उत्पादन घटेगा ही, परन्तु यह मान भी लिया जाय कि उत्पादन बढ़ेगा, तो भी उससे बहुत बड़ी हानि है। क्योंकि उससे मानवता कुण्ठित हो जायगी। मानवता को छीन करके उत्पादन बढ़ाने से क्या लाभ ?

भूमि का वितरण करने से उत्पादन तो बढ़ेगा ही, परन्तु वितरण का प्रमुख उद्देश्य उत्पादन बढ़ाना नहीं है; बल्कि सामाजिक न्याय की स्थापना करना है। सामाजिक न्याय की स्थापना से

सामाजिक सामंजस्य एवं समृद्धि बढ़ने लगेगी, यह निश्चित है। तथापि न्याय-स्थापना को ही सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिए एवं वैसा प्रसंग आ ही जाय और मेल-जोल में थोड़ी तात्कालिक बाधा भी आ जाय, तो उसे सहन करके भी न्याय-स्थापना तुरंत करनी चाहिए। हमने अंग्रेजों से जो स्वराज्य माँगा, वह उत्पादन-वृद्धि के लिए नहीं, अपितु मानवता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए ही माँगा था।

तब कम्युनिस्टों में और आपमें क्या फर्क रहा? यों उनमें और हममें विशेष फर्क नहीं है। और किसीसे अपना भिन्नत्व बताने में हमें कोई माधुर्य भी प्रतीत नहीं होता। वे भी हमारी तरह समता के पक्षपाती हैं। पर वे जो कार्य बलप्रयोग से करना चाहते हैं, वह हम समझा-बुझाकर और अपने तथा अपने स्वजनों के उदाहरण के द्वारा करना चाहते हैं। और हमें यह दृढ़ विश्वास भी है कि हम यह कर सकेंगे। मनुष्य की मूलभूत सज्जनता पर हमारा विश्वास है और उनका भी अविश्वास ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तथापि जमीन-मालिक स्वयं अपने आप अपने पड़ोसियों को जमीन देगा, इसके विषय में वे निराश हो गये हैं, वैसे हम नहीं हुए हैं। हममें से कल तक कोई निराश ही नहीं होगा, ऐसा हम विश्वास नहीं दिला सकते। परन्तु भू-स्वामी यदि तत्परता दिखायेंगे, तो हमारे कम्युनिस्टों से मिलने के बदले वे ही हमसे आकर मिलेंगे। कम्युनिस्टों को गांधीवादी बनाना या गांधीवादियों को कम्युनिस्ट बनाना मालिकों के हाथ में है।

फिर यह शान्तिपाठ किसलिए? "पीड़ित भूमिहीनों का उत्पीड़न बनाये रखने में ही आप अपने शान्तिपाठ से सहायता दे रहे हैं। जमींदारी-प्रथा अत्याचारी है, यह मान्य करने पर भी

आप शान्ति-पालन के लिए क्यों अड़ जाते हैं ? जमींदारों द्वारा लगानदारों का पीढ़ियों से जो हिंस्र शोषण हुआ, उसे आप सह सकते हैं, पर लगानदारों द्वारा किया गया थोड़ा-सा भी प्रतिकार आप बर्दाश्त नहीं कर सकते, यह कहाँ का न्याय है ?" ऐसी आपत्ति भी कई लोग उठाते हैं।

परन्तु बलवे का हम जो विरोध करते हैं, उसमें तात्त्विक या नैतिक दृष्टि भी है और व्यावहारिक हिसाब भी।

जमींदारी और जमीन की ठीकेदारी अन्याय्य हैं, यह तो ठीक है; फिर भी जमींदार नहीं मानते, अतएवं उन्हें मार-पीटकर भूमि छोड़ने के लिए बाध्य करें, यह नैतिक दृष्टि से उचित नहीं होगा। कल तक लगानदार स्वयं अपनी खुशी से या चुपचाप उन्हें लगान देते आये हैं। अतएव मालिक लगानजीवी बन गये। जैसे मनुष्यमात्र को परमार्थ का आकर्षण है, वैसे ही स्वार्थ का भी आकर्षण होता है। यह स्वार्थ चलने दिया जाय, तो उसकी आदत पड़ जाती है। वह आदत एक रात में बदलना उसे मुश्किल मालूम होता है। अब लगानदारों की स्वार्थी आकांक्षाएँ झट से जाग्रत होती हैं, उतनी ही शीघ्रता से मालिकों की पारमार्थिक जाग्रति नहीं होती। इसलिए क्या उनकी मरम्मत करना उचित होगा ? क्या सब्र करना उचित नहीं होगा ?

भला, जो लगानदार उन्हें पीटेंगे, क्या वे अपने आपस के अन्याय पहले दूर करने के लिए तैयार हैं ? अपने शिकमी-असामियों से ड्योढ़ा-दुगुना लगान लेनेवाले लगानदार अपने ऊपर के मालिकों पर दाँत-ओठ पीसने लगें, तो क्या वह उन्हें शोभा देगा ? परन्तु सर्वत्र यही स्थिति पायी जाती है।

सारांश यह कि अत्याचार और शोषण का ठेका मालिकों ने ही लिया हो, ऐसा नहीं है। प्रायः हम सब जहाँ बन सके, वहाँ शोषण करते ही हैं। और दूसरी तरफ से अन्य लोग हमारा

शोषण करते रहते हैं। शोषक और शोषित, दोनों एक ही देह में डेरा जमाये हुए हैं। शेर और बकरी एक ही पिंजड़े में रहते हैं। पिंजड़ा जला दें तो वह बाघ-बकरी नष्ट होंगे; पर बाघ का हिंस्र-वंश और बकरी का अजा-वंश, दोनों तो जीवित ही रहेंगे। हम सब लोग बाघ-बकरी, दोनों हैं। हम सबको परस्पर सहायता से अपना हिंस्रपन तथा बकरीपन, उद्दंडता एवं दब्बूपन नष्ट करने हैं। यह आत्मशुद्धि से एवं समझाने से ही होगा। मारपीट से अकेले-दुकेले बाघ-बकरी मरेंगे, पर वंश अबाधित ही रहेगा।

हममें और उनमें फर्क--समता के विषय में हम और कम्यु-निस्ट एक हैं। पर यह कदाचित् चौराहे पर की भेंट भी हो सकती है। उनका एवं हमारा निकलने का और पहुँचने का आदि और अन्त, दोनों स्थान भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् मार्ग भी आमूलाग्र भिन्न हैं।

प्रेम और वात्सल्य से मनुष्य साम्यवाद की ओर आता है और तैश, द्वेष एवं मत्सर से भी आता है। जहाँ प्रेम में से साम्यवाद की ओर आनेवाला रास्ता मानवीय प्रकर्ष के शिखर पर जाता है, वहाँ मत्सर में से साम्यवाद की ओर जानेवाला रास्ता मानवीय विध्वंस की खाई में जाकर खो जाता है।

हमें समता चाहिए, पर यह हमारा अन्तिम उद्देश्य नहीं है। समता मानवता के उत्कर्ष का साधन है, इसलिए वह हमारा इष्ट है। उद्दंडता और दीनता, दोनों मानवता के लिए समान रूप से बाधक हैं। जैसे हमें लाचारी और दीनता से नफरत है, उसी प्रकार उद्दंडता से भी है। भूमि का वितरण समानता का स्पष्ट लक्षण है। हमारा प्रयत्न यह है कि यह वितरण मानवता के लिए अर्थात् सज्जनता के लिए पोषक उपायों से ही हो।

इसके विपरीत विद्रोह, दंगा-फसाद से मानवता ही नष्ट होती है। सूखी लकड़ियों के साथ-साथ, बल्कि यों कहिये कि

सूखी लकड़ियों के बदले गीली लकड़ियाँ जलती हैं। जिस तेल में बड़े तले गये हों, वह तेल बैंगन पर छलकता है। निष्पाप बालकों की हत्या होती है। स्त्रियों की विडम्बना होती है। निरुपद्रवी वृद्ध व्यक्ति अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। इस प्रकार अत्याचारी का विनाश भले ही होता हो, परन्तु पीड़ितों का दुःख-निवारण दरकिनार रह जाता है; बल्कि पीड़ा दसगुनी बढ़ जाती है।

व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय, तो पाया जाता है कि जो शोषक-वर्ग होता है, वही सत्ताधीश और शस्त्रों-अस्त्रों से सुसज्ज होता है। शोषितों को अगर मन से नहीं, तो परिस्थितिवश लाचार होकर निःशस्त्र ही रहना पड़ता है। शस्त्रों की लड़ाई में उनकी हार होगी, यह निश्चित है। निर्बल धनहीनों का बलिष्ठ धनिकों के साथ शस्त्रबल से सामना करने की कोशिश करना तो गरुड का पानी में उतरकर घड़ियाल से जूझने के समान है। सत्य-अहिंसा के दोनों पंखों के आधार पर उच्च स्तर से नैतिक संग्राम करने में ही उनकी कुशल है।

जमीन मुफ्त में क्यों बाँटते हो ?

प्रश्न—भूमिहीनों को मुफ्त भूमि देकर क्या हम उन्हें निठल्ले नहीं बना रहे हैं ? क्या उसमें उनका भी अहित ही नहीं होगा ? और क्या इसमें उनके स्वाभिमान को ठेस नहीं लगती ?

उत्तर—प्रारम्भ में सभी को मुफ्त में भूमि मिली थी। हवा, पानी तथा प्रकाश आज भी सबको मुफ्त में मिल रहे हैं और इनकी मदद के बिना खेत में उपज भी नहीं होती।

प्रश्न—फिर भी न सिर्फ ऊसर और ऊबड़-खाबड़ जमीन ही, बल्कि मेहनत से कमायी हुई जमीन भी मुफ्त में क्यों दी जाय ?

उत्तर—परन्तु उसे कमाया किसने ? जमीन-मालिक ने,

लगानदार ने या मजदूर ने ? उसे सुधारने का श्रेय पूरा न सही, तो भी बहुत अंशों में लगानदारों या मजदूरों का ही है।

प्रश्न—परन्तु फलाने मजदूरों की मेहनत से कमायी गयी जमीन दूसरे ही किसी मजदूर को मुफ्त में क्यों मिले ?

उत्तर—जिन भूमिहीनों को भूदान-यज्ञ में भूमि मिलेगी, वे प्रायः कई पीढ़ियों से या वर्षों से लगानदार या श्रमिक के नाते परिश्रम करनेवाले लोग ही होंगे; अर्थात् उन्होंने उम्मीदवारी की है। वे भूमि के अधिकारी ही हैं। आज तक उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखा गया था। अंग्रेजों ने हमसे स्वराज्य छीन लिया था, वह उन्होंने हमें मुफ्त में ही लौटा दिया, उसी तरह भूमिहीनों को भूमि देनी है। यह भूमि-वितरण निर्वासितों को पुनर्वास देने जैसा है।

खेती : एक नौकरी---किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व का मुद्दा यह है कि इस भूमि-वितरण का स्वरूप ही अनोखा है। भूमि मानो एक तिजोरी है और वह एक से छीनकर दूसरे को दी जानेवाली है, यह धारणा ही जड़-मूल से बदलनी चाहिए। भूमि कोई मीरास (विरासत) नहीं है, वह एक कारफरमाई है। भूमिहीनों को हम स्वामित्व नहीं देते। वह उस भूमि को बेचकर मुफ्त के पैसे नहीं कमा सकता। जैसे अदालत में क्लर्क की या पाठशाला में अध्यापक की नियुक्ति की जाती है, वैसे ही भूमि जोतने की योग्यता रखनेवाले भूमिहीन की उस भूमि पर नियुक्ति करनी है। अध्यापकों को तख्ता (ब्लैकबोर्ड), नकशे, चित्रपट आदि साधन देते हैं, उसी प्रकार किसान को हल-बखर, खाद, बीज आदि देना है और वह ठीक ढंग से काम नहीं करता है, ऐसा मालूम होते ही उसके अधिकार से जमीन निकाल भी लेनी है। उसमें भूमिहीनों के स्वाभिमान को चोट आने जैसी

कोई बात नहीं है। भूमि को स्वीकार कर उसे जोतना देश के प्रति उसका कर्तव्य है।

लगान बढ़ भी सकता है---ऊपर के प्रश्नों के पीछे एक और भावना छिपी हुई है। वह यह कि भूमि की उपज खेत में किये हुए परिश्रम के मुआवजे से अधिक होती है। उसमें सृष्टि की देन भी सम्मिलित है। उदाहरणार्थ 'हापुस' आम का वृक्ष एक ही मौसम में सैकड़ों रुपये भी दे जाता है, पर धनी का परिश्रम फल का दशांश भी नहीं होता। प्रत्येक खेत फलता हुआ वृक्ष है, दुधारू गाय है।

भूमि की इस देन पर अधिकार किसका ? अकेले किसान का ? नहीं; बल्कि सारे समाज का अर्थात् सरकार का। जमीन पर सरकार महसूल लेती है, वह इसी कारण। जमीन का महसूल जमीन की बगैर मेहनत मिली हुई देन के बराबर होना चाहिए। भूदान-यज्ञ से भूमि की जो नयी व्यवस्था करनी है, उसमें इस सरकारी महसूल का पुनर्निर्धारण करना होगा।

आज खेती के खर्च में खाद, बीज, परिश्रम, सार-सँभाल आदि के साथ-साथ खेती की कीमत की रकम का ब्याज भी लगाया जाता है। हमारी योजना में शुद्ध उत्पादन याने बिना श्रम का उत्पादन आज की अपेक्षा अधिक होगा। अर्थात् उपजाऊ भूमि पर या बाजार के लिए पैदा की गयी फसलों पर महसूल बढ़ेगा एवं निकृष्ट भूमि पर से बिलकुल माफ भी होगा। परती भूमि के सुधार के लिए सरकार किसानों को सहायता भी देगी। महसूल का पुनर्निर्धारण करते हुए राज्य-शासन के मार्ग में आनेवाली अर्थात् सार्वजनिक व्यवस्था की कठिनाइयों को ध्यान में रखना होगा। तथापि आम तौर पर प्रत्येक भूमि के एवं उपज

के स्वरूप के अनुसार खेती से कम-ज्यादा मात्रा में अनायास मिलनेवाली उपज अकेले जोतनेवाले को मिलने की अपेक्षा सारे समाज को मिले, ऐसी व्यवस्था करना ही उचित होगा।

उचित लगान भी लिया जायगा---कमायी हुई जमीन पर कुछ अवधि तक उतरते-घटते (Diminishing) अनुपात में लगान वसूल करना उचित है, यह हमने इसके पूर्व देख लिया है। अर्थात् ऐसी कुछ जमीनें अगर भूदान-यज्ञ में वितरित हुईं, तो उनका कुछ वर्षों तक लगान वसूल कर उसे किसी सार्वजनिक कार्य में लगाना उचित है। ऐसे अवसर अपवादात्मक ही होंगे।

क्या यह पक्षपात नहीं है ?

प्रश्न—आपको केवल लगानदारों एवं मजदूरों की इतनी अनुकम्पा आती है, पर मध्यमवर्गीय जमीन-मालिकों की विपत्तियाँ अनगिनत हैं। नये-नये कानूनों के कारण लगान की आय शून्य तक आ गयी है और उधर हमारे लड़के परीक्षाएँ पास करें, तो भी उन्हें नौकरियाँ नहीं मिलतीं। उन्हें खेती में ही लगाने की सोचें, तो हमारी अपनी मालकियत की जमीन जोतनेवालों से वापस नहीं ली जा सकती। कानूनी रुकावटों में से कोई रास्ता खोज भी लें, तो भी आप लोगों का खुलेआम प्रचार जारी है कि जान जाने पर भी जोतनेवाला वेदखल न हो। जमीन बेचने जायँ, तो ग्राहक नदारद है। इस प्रकार चारों ओर से घेरकर हमें मारा जा रहा है, क्या यह अन्याय नहीं है ?

उत्तर—लगानदार एवं मजदूर ही हमारे हैं, ऐसी बात नहीं है। सफेदपोश लोग हमारे अधिक निकट के हैं। हम उन्हींमें से हैं। उनकी दिक्कतें हमारी दिक्कतें हैं। उसमें से हमें कोई न्याय-संगत मार्ग एक-दूसरे की सहायता से खोजना चाहिए।

हर व्यक्ति को ऐसा काम मिलना चाहिए, जिसे वह कर सके और जो समाज के लिए भी पोषक हो। उस काम से उसकी अन्न-वस्त्रादि उचित आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए। परन्तु इसीलिए आज जिसके पास जो काम है, उससे उसे छीनकर दूसरे नये आदमी को देना फजूल है।

आज जो लोग खेती में लगे हैं, उन्हें वहाँ से हटा देना मुनासिब नहीं है। आपके लड़कों के लिए ऐसा कोई काम खोजना होगा, जिसे वे कर सकें। जैसे शिक्षक का काम है, मुंशीगिरी है या कोई कला-कुशलता का हलके परिश्रम का काम है। आप कहते हैं कि वे खेती करेंगे। मजदूरों की मार्फत खेती कराने का और खुद सिर्फ देखभाल करने का अगर उनका इरादा हो, तो आगे आनेवाले जमाने में वह चीज होनेवाली नहीं है और न वह उन्हें शोभा ही देगी। अगर उन्हें सच्चे दिल से मजदूरी का पेशा स्वीकार करना हो, तो वह सराहनीय बात है। वे उम्मीदवारी करते-करते याने अभ्यास करते-करते मजदूर-पेशा बनें, तो उन्हें भी दूसरे भूमिहीनों के साथ बल्कि उनसे भी पहले जमीन और कृषि के साधन मिलने चाहिए; क्योंकि ये बुद्धिमान कृषक अधिक कार्य-कुशल और दूसरों के लिए मार्गदर्शक साबित होंगे। परन्तु इसके लिए वर्तमान किसानों को बेदखल करना चाहे कानूनन जायज हो, तो भी न्यायसंगत नहीं होगा। वे बेचारे क्या करें? आपके लड़कों के पास शिक्षण है, उनके पास वह भी नहीं है। कचहरियों की भाँति कारखाने भी भर गये हैं, अतएव कारखानों में मजदूरों के नाते भी उन्हें काम दिलाना असंभव है। इसलिए लगानदारों को बेदखल करने से, उन्हें भूमिभ्रष्ट करने से हमारा विरोध है।

लगानदारों के पास आवश्यकता से अधिक भूमि हो, तो वे उन जमीनों को औरों के लिए छोड़ दें, ऐसी प्रार्थना हम उनसे

करते हैं। उसी प्रकार यदि वे लोग जमीन अच्छी तरह से कमाते न हों, तो उनसे जमीनें छीन लेने की तजवीज कानून में भी होनी चाहिए।

अस्तु, आज तक श्रमजीवी-वर्ग का शोषण हुआ और अवहेलना भी हुई। अव इस अन्याय-निराकरण के लिए मुफ्तखोर-वर्गों को चाहिए कि वे अपना रहन-सहन बदलने की पूरी-पूरी कोशिश करें। उसी प्रकार वे कानूनी अधिकारों का घमंड छोड़कर लगानदार तथा मजदूरों से आदर, नम्रता तथा ऋजुता से पेश आयें, तो सज्जन असामी भी अपने मालिकों की उपेक्षा कदापि नहीं होने देगा।

आज भू-स्वामियों का वर्ग एक प्रकार से लगानदारों की पीठ पर सवार होकर भव-सागर पार कर रहा है। हम उनसे कहते हैं, "आप भी पानी में उतरिये, कुछ हाथ-पैर चलाइये, तो आप भी तैरना सीख जायँगे और उसमें आपको मजा भी आवेगा।" इसमें हमारा मनसा आपको डुवाने का नहीं है; वल्कि दोनों वर्गों को सुख के साथ तैरना सिखाने का है।

हमारे रत्नागिरी जिले में बड़े जमींदार नहीं हैं, यह सही है। फिर भी, छोटे जमीन-मालिकों से लगान पर ही ली हुई भूमि का लगान दिया जा सके, ऐसी योग्यता की भूमि भी इधर वहुत कम है। अपनी जमीन जोतनेवाले किसानों के लिए घर-गृहस्थी चलना जहाँ मुश्किल हो गया है, वहाँ दूसरों को लगान देनेवाले असामियों का गुजर-बसर कैसे चले? इधर लगान की दर षष्ठांश तक उतारने से भी काम नहीं चलेगा। लगान का नष्टांश ही होना चाहिए।

इसमें एक को मारकर दूसरे को पुष्ट करने का हेतु नहीं है। आज तक श्रमजीवी-वर्ग चूसा गया और सफेदपोश मध्यम-वर्ग पंगु वन गया। अव दोनों वर्गों को चाहिए कि वे अपनी-

अपनी शक्ति के अनुरूप उद्योग करें और दोनों सुख से जियें। एक पंगुता त्याग करे, दूसरा अनाड़ीपन और गैरजिम्मेवारी को पीछे छोड़ दे। यह जीवन का विकास है, विनाश नहीं। इसमें हानि किसीकी भी नहीं है। सबका लाभ ही है।

सुशिक्षितों की बेकारी दूर करने का एक उपाय यह है कि वे श्रममय जीवन अपनायें। उसी प्रकार दूसरा उपाय है, केन्द्रित उद्योगों पर अर्थात् कारखानों पर नियंत्रण लगाकर विकेन्द्रित उद्योगों को याने स्वतन्त्र ग्रामोद्योगों को सुरक्षित एवं संघटित किया जाय। अतएव भूदान-यज्ञ के साथ ही हम खादी, ग्रामोद्योगी चावल, आटा, तेल, गुड़, शक्कर तथा अहिंसक देहाती चर्मोद्योग का भी प्रचार करते हैं और उनके संरक्षण के लिए यांत्रिक उद्योगों का बहिष्कार भी करते हैं।

देने में परम आनन्द

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यहाँ तक का मेरा विवेचन कुछ तीखे शब्दों में, कुछ डराने-धमकाने की तरह का हुआ, निषेधात्मक हुआ। उसमें मेरा हेतु यही था कि मेरे मुद्दे ठीक से ध्यान में आ जायँ। किसी एक या अन्य व्यक्ति को या वर्ग को लक्ष्य करके मैंने यह नहीं कहा है। हेतु इतना ही था कि हम सभी के जीवन में जो महाभारत निरन्तर मच रहा है, उसके दुर्योधन, दुःशासन आदि की ठीक-ठीक परख करा दी जाय। क्योंकि जब तक यह परख नहीं होगी, तब तक उन्हें परास्त करने का रास्ता भी नहीं मिलेगा। फिर भी यदि मेरा सन्तुलन न रह सका हो और कुछ न्यूनाधिक लिखा गया हो, तो सहृदय पाठक नाराज न हों और उसका भावार्थ ही ग्रहण करें।

क्योंकि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य के हृदय में सत्प्रवृत्तियों की अपेक्षा दसगुनी अधिक दुष्प्रवृत्तियाँ जोर

पकड़ रही हों, पाँच पाण्डवों के विरोध में सौ कौरव खड़े हों, तो भी उनमें सर्वश्रेष्ठ विभूति धर्मराज ही हैं। और चाहे जितना घोर रणक्रन्दन, चाहे धर्मराज को कुछ समय वनवास और अज्ञातवास में विताना पड़े, तो भी अन्तिम विजय उन्हींकी होनेवाली है।

मनुष्य स्वार्थी है, यह सर्वमान्य है; पर उससे कहीं अधिक वह परमार्थी है, क्योंकि वह जितने अंश में मलिन देह है, उससे कहीं अधिक निर्मल, मंगलमय आत्मा है। व्यवहार में निरन्तर उपयोग से उसका लोटा मैला हो गया हो, उसमें दाग पड़ गये हों, तो भी वह मूलतः स्वच्छ, चमकदार धातु का ही बना हुआ है। साफ राख से जरा माँजने की देर है, वह फिर से चमकने लगेगा। विनोबाजी को अपनी वैराग्य-वह्नि की स्वच्छ राख से और भक्ति-जल से मनुष्यों के मन-कलश शीघ्रता से चमकाते हुए हम प्रत्यक्त देख ही रहे हैं न ?

मनुष्य को दूसरे की चीज लेने में, दूसरे को लूटने में आनन्द आता है, यह वात गलत नहीं है। रेलगाड़ी में अन्य किसीका खोया हुआ छेदवाला पैसा ही यदि मुझे मिल गया, तो उतने से मुझे कितना आनन्द होता है। जिसका पैसा खो गया होगा, उसके विषय की रहनेवाली सहानुभूति उस आनन्द की लहर में बिल्कुल डूब जाती है, यह भी गलत नहीं है। फिर भी दूसरे की सहायता के लिए दौड़ जाने में, दूसरों के लिए प्राण देने में भी मनुष्य को परम आनन्द होता है, यह भी सत्य है। क्योंकि जिसे हम 'दूसरा' कहते हैं वह 'दूजा' नहीं है, वह हम खुद ही हैं। इसका धुँधला एवं अस्पष्ट ज्ञान तो प्रत्येक मनुष्य को सहज ही होता है। उसके लिए विशेष योग-साधना की आवश्यकता नहीं है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

सर्वभूतों में आत्मा भरा हुआ है एवं भूतमात्र आत्मा में है। योगयुक्त मनुष्य को सर्वत्र यही दर्शन होता है।

—गीता, अ० ६, श्लो० २९

उद्दंडता में जितना आनन्द है उससे सौगुना अधिक आनन्द नम्रता में है ('लहानपण देगा देवा'='नम्र कर दे मुझे प्रभो'—संत तुकाराम) विजय में जितना आनन्द है उससे भी निराला आनन्द शरण जाने में और परास्त होने में है।

दास का मूल्य है। पर हजार दास एक दोस्त के पासंग में भी आ सकते हैं क्या ? जीने में आनंद है पर मरने में परम आनंद है। केले का पेड़ हमें मधुर केले देता है और स्वयं मर जाता है। माता बालकों की परवरिश के लिए स्वयं घुलती है।

जिनसे हमने शूद्र समझकर काम कराया, जिन्हें तिरस्कृत किया, दास बनाया, वे हमारे सगे भाई ही हैं। यह पहचान हो जाने पर वह कुनबी, वह ढेड़ दूर-दूर रहे, यह बात मुझसे सही नहीं जाती।

मनुष्य संगति के लिए तरसता है। संगति समानशील की ही हो सकती है। राजा के चारों ओर सौ खुशामदी टट्टू हों, तो भी वह अकेलेपन का ही अनुभव करता है। पहले हमारे यहाँ की रियासतों के राजा लोग अपनी राजधानियाँ छोड़कर दूर-दूर का प्रवास करते थे। राजधानी में उनका मन ही नहीं लगता था, क्योंकि राजधानी में उनको अपनी बराबरी का कोई साथी नहीं मिलता था, जो उनसे हँसी-मजाक करता, उनसे बहस करता। प्रसंगवश उन्हें एकाध चाँटा भी जड़ देता। सभी चापलूस, सभी ठकुर-सुहाती करनेवाले। विदेश में उन्हें राजा

के नाते कोई नहीं पहचानता था। इसलिए वहाँ उन्हें संगति मिल जाती थी।

कोई संगी-साथी चाहिए, इसीलिए तो राजा लोग अपने प्रजाजनों में से कुछ लोगों को पदवियाँ, खिताब, जागीरें और वस्त्र आदि से विभूषित करके उन्हें अपने 'बराबरी के (पीअर्स)' बनाते थे।

इस आंतरिक प्रेरणा के नाम पर मालिकों से हम अनुरोध-पूर्वक विनय करते हैं, उनके, अपने तथा समाज के कल्याण एवं उन्नति के लिए निवेदन करते हैं कि भूमि की मालकियत छोड़ दीजिये, सिर्फ लियाकत बतलाइये।

यह उपकार नहीं है, सख्ती भी नहीं है, यह उत्सव है, प्रेमालिंगन है।

यह उत्सव जिसे नहीं भाता, उस अभागे से हम यह भी कहते हैं कि अगर प्रेम के लिए नहीं, तो स्वार्थ के लिए भी, तुझे यही करना होगा।

प्रामाणिकता जीवन में स्वयंप्रेरणा से तो आनी ही चाहिए। किन्तु आज तो स्वार्थ और सुरक्षितता के लिए उसकी आवश्यकता है।

कई लोगों को भूदान-यज्ञ क्रान्तिकारक कार्यक्रम के रूप में आकर्षक प्रतीत होता है। पर मुझे तो उसमें नया कुछ भी दिखायी नहीं देता। आज तक सारे सज्जन, सत्पुरुष, तत्त्ववेत्ता जिस परिपाटी का आचरण करते आये, जिसे सिखाते आये, सब सज्जनों के जीवन में जो रम गयी है उसी रीति-भाँति का यह अगला एवं अटल कदम है।

हमारा नवभारत

हमें जो नवभारत, नवमहाराष्ट्र, नवकोंकण, नव-रत्नागिरी बनाना है, उसका जो चित्र हमारे सामने है, उसमें इतने कार-

खाने, इतने लोहमार्ग, इतने बाँध, इतने भांडार दिखाकर हमारा समाधान नहीं होगा। हमें उस चित्र के बीच में मनुष्य चाहिए। उसके अनेकानेक हाथों में ये कारखाने आदि सब आयुध-आभूषण के रूप में ही शोभा देंगे।

हमारे रत्नागिरी जिले में अमुक लाख आमों की कलमें लगानी हैं। जिले के एक-एक आम के पेड़ को 'हापुस' आम के पेड़ में बदल देना हमारा अंतिम ध्येय नहीं है। इन आमों को चखनेवाले मनुष्य होंगे, तभी उन आमों का उपयोग है। आज इस जिले में साढ़े सत्रह लाख लोग हैं। परंतु वे सारे बीजू आमों की तरह के हैं, क्योंकि 'हापुस' आदमी दूसरे मुल्कों के लिए रवाना हो जाते हैं। अन्य प्रदेशों को हम 'हापुस' आम, 'हापुस' मनुष्य अवश्य भेजते रहें, लेकिन गाँवों में जो मनुष्य रहते हैं, वे सब जब तक 'हापुस' की तरह मधुर, काजू की तरह स्निग्ध, अमचूर की तरह सौम्य और चम्पे की तरह सुगन्धित नहीं बनेंगे तब तक हमें सन्तोष नहीं है। यहाँ कोई अनाड़ी, कायर, मुहताज न रहे। कोई गुंडा और उन्मत्त भी न हो। कोई ठंड से ठिठुरने-वाला न हो। और न किसी पर यह सख्ती हो कि दम घुट रहा हो, तो भी शिष्टाचार के लिए वह जाकिट पर कोट भी पहने। मेरा यह आग्रह है कि मैं स्वयं जैसा बनना चाहता हूँ, जैसा रहना चाहता हूँ, उसी तरह से मेरे सारे भाई-बहन रहें। तेली, माली, कुनबी, चमार, महार आदि सब अपनी फटी और सड़ी-गली गुदड़ियाँ जलाकर (जी नहीं, भूल हुई) कंपोस्ट खाद में डाल दें और दरी, चादर, कंबल आदि के बिस्तर सजायें। आये दिन मुझे एकाएक किसीके घर रहना पड़े, तो वहाँ मेरे मन के अनुकूल बिछौना, ओढ़ना मिलना चाहिए और सोने से पहले संतुलित भोजन तो चाहिए ही। मेरा एक भी घर कुंद और गंदा न रहने पावे।

ऐसा ही भारत हमें बनाना है। अतएव हममें कोई शूद्र न रहे। कोई असामी न रहे। और कोई कारबंद या फरमावरदार मजदूर न रहे। कोई आलसी—अलाल, मिजाजी टट्टू भी न रहे।

सिर्फ मुझे यह सब नहीं चाहिए और आपको उसका शौक है, ऐसा थोड़े ही है।

तो यह भूदान-यज्ञ आपकी इन शुभ कामनाओं को सफल करने के लिए ही अवतरित हुआ है, उसका स्वागत कीजिये।

सम्पत्तिदान, श्रमदान, जीवनदान

जिस प्रकार भूमिवान भूमि दें, उसी प्रकार संपत्तिवान संपत्ति दें। हम सभी संपत्तिवान हैं। हमें चाहिए कि अपनी संपत्ति का छठा या कम-ज्यादा किन्तु निश्चित भाग समाज को लौटाने के कर्तव्य को हम मान लें। इसे 'संपत्तिदान' कहते हैं। "संपति सब रघुपति कै आही" संसार की सारी संपत्ति के एक-मात्र स्वामी प्रभु हैं। मुझे जो संपत्ति मिली या मिल रही है, वह मेरी कार्यकुशलता या क्रियाशक्ति से नहीं मिली है। आज तक सारी मानव-जाति की कमायी हुई संपत्ति और साधन मुझे अनायास विरासत में मिल गये। दुनिया के प्रचलित व्यवहार में एक व्यक्ति को भरपूर संपत्ति मिलती है और दूसरे का दिवाला निकलता है। इसके मूल में अक्सर अकल्पित संयोग ही होते हैं। यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि मुझे जो संपत्ति मिली वह मेरी अपनी क्रियाशक्ति से मिली, तो भी वह क्रियाशक्ति तो मुझे प्रभु-कृपा से ही मिली। किसी व्यक्ति को जन्म से ही मधुर कंठ एवं गायन-कला प्राप्त होती है। और हमारे पूर्वजों ने ग्रामोफोन, रेडियो का बहुत विकास किया, इसलिए उन साधनों की सहायता से कोई गायिका किसी एक ही गाने के रिकार्ड बनवाकर, उसकी लाखों

प्रतियाँ वेचकर लाखों रुपये कमा सकती है। परंतु प्रभु ने उसे जो मधुर कंठ दिया वह इसलिए नहीं दिया कि पंद्रह मिनट की कारगुजारी पर उम्र भर दूसरों से मेहनत कराकर वह चैन की वंसी बजाती रहे। ईश्वर कुछ लोगों को विशेष बुद्धि, शक्ति देता है, परन्तु वह इसलिए नहीं देता कि वे दूसरों पर प्रभुत्व चलावें; प्रत्युत इसलिए देता है कि वह शक्ति दूसरों के भी काम आये। ईश्वर और समाज से इस प्रकार जो संपत्ति प्राप्त होती है उसमें से अपनी आवश्यकता भर स्वयं भोगकर शेष समाज को लौटा देना ही मनुष्य का कर्तव्य है। जन्मसिद्ध भेद एवं सामाजिक व्यवहार के संयोगों से पैदा होनेवाली विषमता का निराकरण अतिरिक्त संपत्ति के दान से जहाँ-का-तहाँ होते रहना और जिस क्षण का उसी क्षण होते रहना, समाज-स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक है।

मनुष्य समाजावलंबी प्राणी है। समाज के आश्रय से और समाज के साथ व्यवहार करने से ही मनुष्य को संपत्ति प्राप्त होती है अतएव जिसके पास जो हो—भूमि, धन, बुद्धि, कम-से-कम शरीरबल—जो भी हो, उसे वह समाज के लिए उत्सर्ग करके मुक्त हो जाय। इसीसे जीवन कृतार्थ होता है।

परंतु लोभ भी मनुष्य ने अपनी छठी के दूध के साथ पीया है। भूमि, संपत्ति इत्यादि किसीको कितनी भी प्राप्त हुई हो, तो भी उसे वह पर्याप्त नहीं प्रतीत होती। वह और भी अधिक चाहता है। तब अधिक जमीन या अधिक संपत्ति से क्या समझा जाय? इसका अर्थ यह कि जब तक दूसरे के पास मुझसे कम है तब तक मेरे पास अधिक ही है। जिस प्रकार पानी अपनी सतह तुरत सँभाल लेता है उसी प्रकार भूमि और संपत्ति समान सतह पर होनी चाहिए। राशनिंग के जमाने में जिस प्रकार अनाज, गुड़, शक्कर, मिट्टी का तेल इत्यादि के संचय पर कब्जा

करके सरकार उनका समान वितरण करती थी; राशन की मात्रा पर्याप्त है या नहीं, यह नहीं देखती थी; अथवा यह भी नहीं कहती थी कि जिन्हें पर्याप्त मात्रा में दे सकेंगे, उन्हींको शक्कर देंगे, दूसरों को कतई नहीं, उसी प्रकार आज भूमि एवं संपत्ति का राशनिंग होना चाहिए। भाई-भाई की जमीन का बँटवारा इसी तरह होता है। फिर यदि हम यथार्थ बन्धु-भाव कायम करना चाहते हैं, तो अपर्याप्त जमीन का भी विभाजन करना क्या आवश्यक नहीं है ? कुछ लोग तो सन्तुलित भोजन करते रहें और दूसरे सब उनका मुँह ताकते रहें, इसकी अपेक्षा क्या अपने साथियों सहित आधा पेट भोजन करके उठने में हमें अधिक सन्तोष का अनुभव नहीं होता ?

यही मानव-धर्म है। और "धर्मात् अर्थश्च कामश्च" धर्म-पालन करने से संपत्ति और सुख अनायास सिद्ध होते हैं।

इस मानव-धर्म के पालन से समाज में सन्तोष, भाईचारा और सहयोग का साम्राज्य होगा और उत्साह का संचार होगा। उसमें से अनायास समृद्धि भी निष्पन्न होगी।

शान्तिः पुष्टिः तुष्टिः चास्तु !

परिशिष्ट

नये समाज का निर्माण

[विनोबा]

ग्रामदान समुद्र के समान है। जिस तरह समुद्र में सब नदियाँ लीन हो जाती हैं, वैसे हरएक की मालकियत ग्रामदान में लीन हो जाती है। इस काम के लिए जब छोटे-छोटे गाँवों के लोग भी तैयार हो रहे हैं, तो उसका मतलब यह है कि काल का एक प्रवाह बह रहा है, जो सबको स्पर्श कर रहा है। परस्पर-सहयोग का महत्त्व जितना इस आंदोलन के समय लोगों के ध्यान में आ रहा है, उतना इसके पहले कभी नहीं आया था, क्योंकि व्यक्तिगत मालकियत समाज में लीन कर देने से बढ़कर और परस्पर सहयोग क्या हो सकता है? इसलिए इस आंदोलन के जरिये न सिर्फ भूमि के मसले के लिए राह खुल जाती है, बल्कि सब तरह की सामूहिक साधना की भी तैयारी हो जाती है। और वह एक ऐसे ढङ्ग से होती है कि उसमें समूह के साथ व्यक्ति का कोई विरोध नहीं पैदा होता, बल्कि सारे व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने स्वार्थ को समूह में विलीन कर देते हैं। इसलिए 'समूह-विरुद्ध-व्यक्तिगत' का जो झगड़ा पाश्चात्य समाज-शास्त्रज्ञों ने और नीति-शास्त्रज्ञों ने पैदा किया था, वह इसमें रहता ही नहीं। ये लोग जो ग्रामदान दे रहे हैं, वे एक नया नीतिशास्त्र और नया समाजशास्त्र रच रहे हैं, ये लोग स्वार्थ और परमार्थ का भी भेद मिटा रहे हैं। जैसे व्यक्ति और समाज के हित में विरोध नहीं है, वैसे ही स्वार्थ और परमार्थ के बीच कोई विरोध नहीं है।

त्रिविध क्रांति

इस तरह इस आंदोलन में जो शक्तियाँ निर्माण हो रही हैं, वे इतनी व्यापक हैं कि उनके लिए हम चाहे जितनी कोशिश करते हों, वह कम ही मालूम होगी। इस आंदोलन में काम करनेवाला व्यक्ति देश-सेवा का दावा कर सकता है, परमार्थ का दावा कर सकता है और समाज-सेवा का दावा तो कर ही सकता है। "समाज-सेवा" शब्द का प्रयोग मैंने मामूली अर्थ में नहीं किया है। वैसे समाज-सेवा तो देश-सेवा में आ जाती है। लेकिन हम कहना चाहते हैं कि समाज-रचना बदलनेवाली क्रांति की ही बात ग्रामदान के काम में आती है। इस तरह देश का आर्थिक जीवन उन्नत करना, सामाजिक रचना में क्रांति लाना और पारमार्थिक उन्नति करना, ये सारे कार्य ग्रामदान के जरिये देहात-देहात में चल रहे हैं।

आमूलाग्र परिवर्तन

अक्सर हम गाँव-गाँव के लोगों के पास जाकर पूछते हैं कि आपकी क्या राय है? तो वे कहते हैं कि शिक्षा और पानी का इन्तजाम होना चाहिए। लेकिन एक दफा हमने ग्रामदान में मिले हुए एक गाँव के लोगों को वही सवाल पूछा, तो उन्होंने जवाब दिया कि अब हम एक हो गये हैं, इसलिए हमें कोई कमी ही नहीं रहेगी, हम एक-दूसरे को मदद करेंगे, तो सब चीजें हासिल कर सकेंगे। यह जवाब सुनकर मैं चकित रह गया। मुझे लगा कि अब इन लोगों को समझाने के लिए मेरे पास अधिक कुछ शेष नहीं रहा है। इन छोटे-छोटे गाँवों को बाहर से कोई मदद नहीं मिलती है, इसलिए भी वे समझ लेते हैं कि गाँव एक बनता है, तो अन्दर से एक ताकत बनती है। इन सब गाँवों को यह अनुभव होता है कि उनकी शक्ति अन्दर से बढ़नी

चाहिए। अपनी शक्ति बढ़ाने की इच्छा अन्दर से जाग जाती है, तो मनुष्य की आत्मा एकदम सावधान हो जाती है और भूदान-यज्ञ का संदेशा सुनकर लोगों को यह लग रहा है कि यह एक ऐसा साधन है कि जिससे हम परावलम्बी नहीं रहेंगे, अपने बल से काम करेंगे। इसलिए वे लोग अत्यन्त उत्साह से यहाँ आते हैं और हमारा संदेशा प्रेम से सुनते हैं। हम उनको यह भी सुनाते हैं कि इस तरह से आप अपने गाँव को सर्वोदय की दृष्टि से संगठित करेंगे, तो आपको बाहर से भी मदद मिल सकती है। लेकिन इस बारे में हम बहुत एहतियात से काम करते हैं। हम उन्हें यह भास नहीं होने देते हैं कि उनके अन्दर जो शक्ति है, उससे बढ़कर कोई दूसरी शक्ति उन्हें मदद करनेवाली है। यह शास्त्र का वचन है कि जो खुद को मदद करते हैं, उन्हें भगवान् मदद करता है। लेकिन ये लोग अपनी अन्दर की ताकत बढ़ायेंगे, तो उसके साथ उन्हें कुछ बाहर की मदद भी मिलनी चाहिए, वह मिलेगी भी; लेकिन जो लोग सिर्फ बाहर की ताकत पर विश्वास रखते हैं, उनकी अन्दर की ताकत तो बढ़ती ही नहीं, लेकिन बाहर की ताकत भी जितनी चाहिए, उतनी मिलती नहीं।

जातिसंस्था का मूल

हम इन गाँववालों को समझाते हैं कि आप लोग 'मैं-मेरा' और 'तू-तेरा' छोड़ दें तथा 'हम और हमारा' कहना शुरू करें। जाति का मतलब इतना ही है कि कोई बढ़ई का काम करता था, तो उसका लड़का भी बढ़ई का काम आसानी से सीखता था और उसे तालीम के लिए किसी स्कूल में जाने की जरूरत नहीं पड़ती थी। लेकिन आज तो गाँव-गाँव के सब धंधे टूट ही गये हैं, इसलिए उसके साथ जातियाँ

भी टूट गयी हैं। धंधे टूटने के बाद भी अगर कोई जाति का नाम लेता है, तो वह एक प्रकार से बेकार ही है। इसके आगे लोगों को हम धंधा देना चाहते हैं, परन्तु जातियाँ नहीं बनाना चाहते, क्योंकि हम चाहते हैं कि हरएक को खेती में कुछ-न-कुछ समय देना ही चाहिए और फिर बचे हुए समय में हर कोई अपना-अपना धंधा कर सकता है। कोई बुनकर दिन भर बुनता ही रहेगा, तो उसके शरीर का गठन अच्छा नहीं रहेगा और उसका आरोग्य भी ठीक नहीं रहेगा। आरोग्य के लिए हर एक को खेत में काम करना चाहिए। फिर बचे हुए समय में कोई बुनाई का काम करेगा, तो कोई बढ़ई का काम करेगा, तो कोई शिक्षक का काम करेगा। मैं तो चाहूँगा कि स्त्रियाँ भी खेती में काम करें और बचे हुए समय में घर का काम करें। हर एक को खुली हवा मिलनी चाहिए। मनुष्य कुदरत के साथ एकरूप होगा, तो वह एक प्रकार से परमेश्वर की उपासना होगी।

जातियाँ नहीं, वृत्तियाँ

इसके आगे जाति का विचार ही छोड़ना होगा। अब जातियाँ नहीं रहेंगी, वृत्तियाँ रहेंगी। हमारी वृत्ति ग्राम-सेवा की होनी चाहिए। किसी में एक शक्ति है, तो किसी में दूसरी। परन्तु अपनी सब शक्तियाँ हमें ग्राम-सेवा में अर्पण करनी हैं। जो जूता बनायेगा, वह यह नहीं कहेगा कि मैं चमार हूँ; बल्कि वह कहेगा कि मैं ग्राम-सेवक हूँ। बढ़ई यह नहीं कहेगा कि मेरी जाति बढ़ई की है; बल्कि वह कहेगा कि मैं ग्राम-सेवक हूँ। शिक्षक यह नहीं कहेगा कि मेरी जाति शिक्षक की है, बल्कि यह कहेगा कि मैं ग्राम-सेवक हूँ। हर कोई कहेगा कि मेरी वृत्ति या तो बढ़ई की है या बुनकर की है, या शिक्षक की है। ये सारी वृत्तियाँ हैं, जातियाँ नहीं हैं। सब मिलकर खेती करेंगे, तो सब जातियाँ

किसान के साथ एकरूप होंगी और हरएक मनुष्य किसान होगा। कोई बढ़ई-किसान, कोई बुनकर-किसान, कोई गुरुजी-किसान, कोई मंत्री-किसान, कोई न्यायाधीश-किसान। इस तरह हरएक किसान होगा और उसके साथ-साथ उसकी अलग-अलग वृत्ति होगी। इस तरह का ग्रामराज्य हमें बनाना है।

भिन्न-भिन्न आदिवासियों की जमातें सूर्य, वरुण, भू-माता आदि देवताओं को मानती हैं। ये सारे प्राचीन आर्य ऋषियों के वंशज हैं। ऋषि भी इन्हीं देवताओं का नाम लेते थे। उसके बाद नये-नये देवता निकले। भुवनेश्वर वगैरह सब अर्वाचीन हैं। अपने देश के मूल देवता भूमि-माता, सूर्य, वरुण आदि हैं। जिसकी सेवा कर सकते हैं, उसकी सेवा करना और जिसकी सेवा नहीं कर सकते हैं, उसकी पूजा करना, यही हमारा रिवाज है। ये लोग भूमि-माता की सेवा करते हैं और सूर्य की पूजा करते हैं। ये खुले बदन सूर्य-प्रकाश में घूमते हैं, तो हम समझते हैं कि ये सूर्य की उपासना करते हैं। जो लोग बाहर से यहाँ पर सेवा करने के लिए आयेंगे, उनको भी इनके जैसे खुले बदन घूमने की आदत डालनी चाहिए। वे यह न समझें कि हम इन्हें कुछ सिखाने के लिए आये हैं, बल्कि वे यह समझें कि हम इनसे कुछ सीखने के लिए आये हैं।

भूमि-सेवा का मौलिक धर्म

जो भूमि-सेवा का मूलधर्म है, जिसके साथ ये लोग चिपके हुए हैं, वह धर्म यह सारे हिन्दुस्तान को देना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि हिन्दुस्तान का प्रोफेसर, न्यायाधीश और मंत्री भी खेती में काम करे और बाकी बचे हुए समय में अपनी-अपनी वृत्ति कायम रखे। गाँव के लोग ऐसा ही करते थे। गाँव में झगड़ा होता था, तो गाँव का कोई मनुष्य फैसला देता था, याने

वह न्यायाधीश का काम करता था; परन्तु वह बेकार नहीं रहता था, खेती भी करता था और साथ-साथ दूसरा काम करता था। इसी तरह देश का हरएक मनुष्य अपनी-अपनी वृत्ति अलग-अलग होने पर भी भूमि-सेवा करेगा, यह महान् विचार, जीवन का एक मूलभूत विचार हम इस क्षेत्र में निर्माण करना चाहते हैं और अपने कार्यकर्ताओं को यह सिखाना चाहते हैं। हमारे जो कार्यकर्ता यहाँ काम करेंगे, वे यहाँ के लोगों के साथ कुछ खेती भी जरूर करेंगे।

यह काम सर्वांगीण क्रांति का काम है, सारे समाज को बदलने का काम है। इसलिए हमें हिंदुस्तान के हर गाँव में बार-बार जाना पड़ेगा। पाँच लाख गाँवों में कम-से-कम बीस दफा यात्रा करनी होगी। उसके बाद आप देखेंगे कि देश का क्या रूप आता है।

(पेनकम, उत्कल, १६-९-'५५)